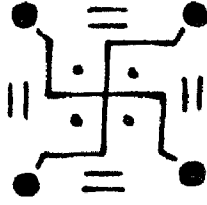


मैं कुछ
होना
चाहता हूँ



मैं कुछ होना चाहता हूँ



आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

संपादक : मुनि दुलहराज

प्रकाशक : जैन विश्व भारती,
लाडनू—३४१३०६ (राज.)

© जैन विश्व भारती, लाडनू

छटा संस्करण : २००१

मूल्य : ४०.०० रु.

मुद्रक : कला भारती,
नवीन शाहदरा, दिल्ली—११००३२

प्रस्तुति

मनुष्य में तीन दुर्बलताएं हैं—क्रूरता, विषमता, स्वभाव की जटिलता ।
इन तीनों के परिष्कार सूत्र हैं—करुणा का विकास, समता का
विकास, कषाय-नियमन का विकास ।

दूसरे शब्दों में—

क्रूरता समाप्त हो और समता जागे ।

विषमता समाप्त हो और समता जागे ।

आवेश समाप्त हो और सहिष्णुता जागे ।

यही 'मैं कुछ होना चाहता हूं' का प्रतिपाद्य है ।

'हूं' के आगे है 'होना' इसका एक मात्र साधन है—ध्यान ।

ध्यान का अर्थ है—चेतना के प्रति जागना और चेतना का साक्षात्कार
करना । पहले जागृति और फिर साक्षात्कृति ।

चेतना के विहरण-क्षेत्र के आधार पर निर्णय होता है कि मैं
'इच्छा-पुरुष' हूं या 'प्राण-पुरुष' हूं या 'प्रज्ञा-पुरुष' हूं । 'कहां है' के द्वारा
'कौन हूं' का निर्णय होता है ।

जब चेतना नाभि के ऊपर नासाग्र तक विहरण करती है तब
'प्राण-पुरुष' प्रगट होता है । जब चेतना भृकुटि के ऊपर सक्रिय होती है तब
'प्रज्ञा-पुरुष' प्रगट होता है और जब चेतना नाभि के आसपास सक्रिय रहती
है तब 'इच्छापुरुष' प्रगट होता है ।

जैसे ज्योतिष का सौरमंडल है, वैसे ही अध्यात्म का सौरमंडल है ।
ज्योतिष में नौ ग्रह माने जाते हैं, अध्यात्मक में भी नौ ग्रह हैं । इन सबका
प्रभाव होता है ।

मनुष्य की विशिष्टता के चार हेतु हैं—

१. प्राणशक्ति के साथ चेतनाशक्ति को विकसित करने का सामर्थ्य ।
२. चेतना के नए-नए आयामों के उद्घाटन का सामर्थ्य ।
३. चेतना के विकास का बोध ।
४. चेतना-बोध की क्रियान्विति ।

‘मैं कुछ होना चाहता हूँ’—इस स्वर से यथार्थ की साधना प्रारम्भ होती है और प्रतिबिम्बों से पार जाकर कृतकृत्य हो जाती है।

सचाई को पाने के लिए साक्षात्कार जरूरी है और अपने अनुभवों को दूसरों तक पहुंचाने के लिए बुद्धि और तर्क जरूरी है।

हमारी चेतना के तीन कोण हैं—

रोने वाली चेतना—यह सुख में से दुःख निकालने वाली चेतना है।

हंसने वाली चेतना—यह दुःख में से सुख निकालने वाली चेतना है।

पूर्णता की चेतना—यह अपूर्णता को भरने वाली पुरुषार्थ की चेतना है।

आत्मानुशासन के पांच घटक हैं—

श्वास पर अनुशासन।

शरीर पर अनुशासन।

इन्द्रियों पर अनुशासन।

प्राण पर अनुशासन।

मन पर अनुशासन।

आचार्यश्री ने ‘मनोनुशासन’ लिखा है। मन की अनुशासना के छह अंग हैं—आहार का अनुशासन, शरीर का अनुशासन, इन्द्रिय का अनुशासन, श्वास का अनुशासन, इच्छा का अनुशासन, मन का अनुशासन।

मैंने इस ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी। शिविरकाल में इन विषयों पर विस्तार से प्रवचन करने का अवसर मिला। कुछ विषय और जुड़े और ‘मैं कुछ होना चाहता हूँ’ रूपायित हो गया। इसको पढ़कर यदि पाठक ‘होने’ की ओर प्रस्थान करेंगे तो निश्चित ही वे ‘होकर’ रहेंगे।

आचार्यवर ने मुझे ‘होने’ की ओर प्रस्थान कराया, प्रोत्साहन दिया और उसकी परिणति का भी साक्षात् किया। यह सब उन्हीं की अनुकम्पा है। इसका संपादन मुनि दुलहराजजी ने किया है।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

१.	इच्छा और अनुशासन	१
२.	आहार और अनुशासन	११
३.	इन्द्रिय अनुशासन	२२
४.	श्व्वास पर अनुशासन	३४
५.	शारीरिक अनुशासन के सूत्र	४४
६.	वाचिक अनुशासन के सूत्र	५३
७.	मानसिक अनुशासन के सूत्र	६३
८.	सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से	७२
९.	ध्यान : एक परम पुरुषार्थ	८१
१०.	मैं मनुष्य हूं (१)	९०
११.	मैं मनुष्य हूं (२)	१००
१२.	मैं कुछ होना चाहता हूं	११२
१३.	मैं आत्मानुशासन चाहता हूं	११९
१४.	मैं मानसिक संतुलन चाहता हूं	१३०
१५.	ब्रह्मचर्य	१४१

इच्छा और अनुशासन

आचार्य तुलसी तेरापंथ धर्मसंघ के और अणुव्रत के अनुशास्ता हैं। अनुशास्ता को सहज ही अनुशासन-प्रिय होना होता है। उन्होंने एक ग्रन्थ लिखा है—‘मनोनुशासनम्’। इसका अर्थ है—मन का अनुशासन। वर्तमान युग का सबसे अधिक लुभावना और आकर्षक शब्द है—मन का अनुशासन। आज मन की समस्याएं जितनी जटिल हैं उतनी संभवतः पहले कभी नहीं थीं। पहले भी मन रहा है, समस्याएं भी रही हैं, किन्तु मन की समस्या उतनी जटिल नहीं रहीं। आज के उद्योगवाद और परिस्थिति ने आदमी को इतना व्यस्त बना दिया कि मानसिक उद्वेग और आवेग प्रबल हो गए। वर्तमान का युग संचार बहुलता का युग है। घटना कहीं भी घटित होती है, आदमी उसे जान लेता है। पुराने जमाने में ऐसा नहीं होता था। घर की घटना पड़ोसी से भी अज्ञात रह जाती थी। आज वैसा नहीं होता। भारत के किसी भी कोने में घटित होने वाली घटना समूचे विश्व में क्षण भर में फैल जाती है। संचार के साधन इतने विविध और तीव्रगामी हो गए हैं कि बात का फैलाव क्षण भर में हो जाता है। मानसिक समस्याओं का यह भी एक बड़ा कारण है। आज के युग ने मानसिक उलझनों के लिए जैसी उर्वर भूमि तैयार की है, वैसी उर्वर भूमि पहले कभी तैयार नहीं थी। इस स्थिति में ‘मन का अनुशासन’—यह शब्द बहुत आकर्षित करता है। यह प्रत्येक व्यक्ति को बांध लेता है।

प्रश्न होता है—क्या मन का अनुशासन प्रारम्भ में ही होने वाली घटना है या इसका भी क्रम है? क्या यह खिचड़ी को बीच में से खाने जैसा उपक्रम नहीं है?

शिवाजी हारते गए। जब कभी उन्होंने युद्ध का उपक्रम किया, हार गए। एक बार वे परिवर्तित वेश में बुढ़िया के घर पहुंचे। बुढ़िया ने घर आए अतिथि का मनोयोग से आतिथ्य किया। एक थाली में खिचड़ी परोसी। घी परोसा। खिचड़ी की सुगन्ध ने उनकी भूख को और अधिक तेज कर दिया। खाने की उतावली में शिवाजी ने खिचड़ी के बीच हाथ डाला। हाथ जलने लगा। कवल नहीं ले पाए। बुढ़िया ने देखा। उसने मुस्कराते हुए कहा—बेटा! लगता है तुम भी शिवाजी जैसे मूर्ख हो? यह सुनते ही शिवाजी चौंके! शिवाजी और मूर्ख! यह कैसे मां! उन्होंने पूछा। बुढ़िया बोली—बेटा! देख, शिवाजी ऐसा ही तो कर रहा है। वह शत्रु की राजधानी पर आक्रमण करता है। वहां शत्रु सेना का संचय होता है। शिवाजी का

आक्रमण विफल हो जाता है। यदि वह पहले आस-पास के छोटे-छोटे कस्बों को अपने अधीन लेता चले तो उसकी शक्ति संचित होती और फिर वह पूरी शक्ति से राजधानी पर आक्रमण कर विजयी हो सकता है। खिचड़ी को पहले आस-पास से खाते-खाते बीच तक पहुंचा जाए तो पूरा काम बन जाता है, अन्यथा नहीं।

शिवाजी को अपूर्व बोध-पाठ मिला एक अनपढ़ किन्तु अनुभवी बुढ़िया से।

क्या मन का अनुशासन गर्म-गर्म खिचड़ी को बीच में से खाने जैसा उपक्रम नहीं है? क्या कोई भी व्यक्ति मन को पकड़ सका है? जिसने भी सीधा मन को पकड़ने का प्रयत्न किया है वह या तो मन को पकड़ ही नहीं सका और यदि मन को पकड़ा है तो बीच में ही अटक गया है, उलझ गया है। पहले खिचड़ी को ठंडी होने की जरूरत है, फिर धीरे-धीरे आस-पास से खाते-खाते बीच तक पहुंचना है।

मेरी दृष्टि में इस ग्रन्थ का नाम होना चाहिए था 'इच्छानुशासन'—इच्छाओं का अनुशासन, इच्छाओं पर अनुशासन। पर ग्रन्थ का नाम रखा है—मनोनुशासनम्, मन का अनुशासन, मन पर अनुशासन। यह एक बहुत बड़ी सचाई है कि सामने वही आता है जो दिखता है। जो ढका पड़ा है वह कभी सामने नहीं आता। नींव के आधार पर कोई नामकरण नहीं होता। झंडों के आधार पर नामकरण होता है। झंडा सबको दिखाई देता है। नींव का पत्थर कभी दिखाई नहीं देता। नींव में जो रहा हुआ है, उसे कोई आगे लाना नहीं चाहता। आगे वही लाया जाता है जो दिखता है।

मन चंचल है, यह हम जानते हैं। वह चंचल क्यों है, यह हम नहीं जानते।

मनोनुशासनम् में मन के अनुशासन की एक पूरी प्रक्रिया बतलाई गई है। इस प्रक्रिया के छह अंग हैं—

१. आहार का अनुशासन।
२. शरीर का अनुशासन।
३. इन्द्रिय का अनुशासन।
४. श्वास का अनुशासन।
५. इच्छा का अनुशासन।
६. मन का अनुशासन।

मन का स्थान छठा है। उससे पूर्व इच्छा का स्थान है। प्राणी का लक्षण है आहार करना। प्राणी का लक्षण है शरीर का होना। प्राणी का लक्षण है इन्द्रिय-चेतना का होना। प्राणी का लक्षण है श्वास लेना, बोलना, सोचना, चिन्तन-मनन करना। किन्तु आज इस यात्रिक युग में ये सब लक्षण डगमगाने लगे

हैं। यंत्रों का इतना विकास हुआ है, हो रहा है कि प्राणी की पूर्व-निर्धारित लक्षण सूची अस्त-व्यस्त हो रही है। कम्प्यूटर के आविष्कार ने सारे मानव मस्तिष्क में हलचल पैदा कर दी है। कम्प्यूटर गणित करता है और कविता भी करता है। वह रोग का निदान करता है तो साथ-साथ औषधियों का प्रेस्क्रिप्शन भी करता है। वह किसी पढ़े-लिखे डॉक्टर से अच्छा निदान करता है और रोग निवारण का सुझाव देता है। सोचना और चिन्तन करना—प्राणी का यह लक्षण भी डगमगा गया। कम्प्यूटर आदमी से अच्छा सोचता है, अच्छा निर्णय लेता है।

इच्छा प्राणी का अकाट्य लक्षण हो सकता है। कम्प्यूटर और कुछ कर सकता है, इच्छा नहीं कर सकता। इच्छा प्राणी का गहनतम लक्षण है। यह एक ऐसी विभाजक रेखा है जो केवल प्राणी में ही होती है, अप्राणी में नहीं होती। सोचना मस्तिष्क का काम है। कम्प्यूटर भी एक प्रकार का मस्तिष्क ही है। वह मनुष्य के द्वारा बनाया गया है। मनुष्य के शरीर में रहने वाला कम्प्यूटर (मस्तिष्क) प्रकृति-प्रदत्त है। श्वास भी शरीर में होने वाली प्रक्रिया है। श्वास का केन्द्र शरीर में है। इच्छा शरीर के साथ चलने वाला यन्त्र नहीं है। बहुत गहरे में जाने पर उसका पता चलता है। यह भावना-जगत् में होने वाला एक आश्चर्य है। यह एक ऐसा दरवाजा है जो सूक्ष्म शरीर से आता है और स्थूल शरीर में खुलता है। इसी ग्रन्थि के आधार पर आकांक्षा और इच्छा पैदा होती है और उस इच्छा के आधार पर सारे कार्य चलते हैं।

मन चंचल होता है इच्छा के द्वारा। इच्छा होती है अन्तर्मन में, गहरे सूक्ष्म जगत् में और मन बेचारा चंचल हो जाता है। वह चक्कर काटने लग जाता है। हम पकड़ना चाहते हैं मन को। वह हाथ में कैसे आएगा?

एक पंखा तेजी से चल रहा था। एक ग्रामीण आया। उसे इतनी तेज हवा अच्छी नहीं लगी। उसने सोचा पंखे को बंद कर दूं। उसके हाथ में लाठी थी। वह उठा और लाठी को पंखे से अड़ा दिया। लाठी भी लड़खड़ाई और पंखे की ताड़ियां भी लड़खड़ाईं। उसने यह सोचकर लाठी नीचे कर दी कि संभवतः पंखा रुक गया है। पंखा फिर चलने लग गया। फिर तेज हवा आई। वह घबरा गया। उसने पंखे पर लाठी से दो चार प्रहार किए। लाठी भी टूट गई और पंखा भी हानिग्रस्त हो गया। उसने सोचा—पंखा जिद्दी है। इतना करने पर भी बन्द नहीं होता।

क्या हम भी ऐसा ही नहीं कर रहे हैं? मन का पंखा चल रहा है। हम उसे बन्द करना चाहते हैं, पर स्विच ऑफ करना नहीं चाहते। जिस प्रेरणा से मन का पंखा गतिशील हो रहा है, उस प्रेरणा को रोकना नहीं चाहते। पंखा चलता है बिजली के प्रवाह से। स्विच ऑन करते ही बिजली प्रवाहित होने लग जाती है।

उसको रोके बिना पंखा नहीं रुक सकता। ताड़ियां स्वतः नहीं चलतीं। वे चलती हैं पीछे की प्रेरणा से। जब तक वह प्रेरणा रहेगी, पंखा चलता ही रहेगा। हम कह देते हैं—पंखा धूर्त है, चंचल है, बन्द नहीं होता। कैसे होगा बन्द?

हम अनपढ़ ग्रामीण की भांति मन के साथ वही व्यवहार करते जा रहे हैं। सीधा मन को रोकने का प्रयत्न करते हैं। लाठी से उसे रोकना चाहते हैं। वह नहीं रुकता। मन का पंखा तब बन्द होगा जब उसको गति देने वाली प्रेरणा को रोक देंगे। वह प्रेरणा है—इच्छा। इच्छा का वेग मन को वेग दे रहा है। इच्छा की विद्युत् के आवेश आते हैं, उसकी तरंगें आती हैं और मन बेचारा घूमने लग जाता है। इच्छा दिखाई नहीं देती। वह विद्युत् का आवेश दिखाई नहीं देता। ताड़ियां दिखाई देती हैं। आदमी दस वर्ष, पचास वर्ष या सौ वर्ष भी लड़ता चला जाए, कोई परिणाम नहीं आएगा। वह लड़ाई तब बन्द होती है जब इच्छा को पकड़ लिया जाता है। इच्छा है तो प्रमाद भी होगा, कषाय भी होगा, योग और चंचलता भी होगी। हम चंचलता को नहीं मिटा सकते, जब तक हम क्रोध की उत्पत्ति की मूल प्रेरणा को नहीं पकड़ लेते। इसलिए इच्छा पर अनुशासन करना बहुत जरूरी है।

एक छोटा बच्चा बदमाशी कर रहा था। वह किसी के कपड़े, किसी की पुस्तकें और किसी के रूमाल फेंक रहा था। दूसरे ने कहा—बच्चे! ऐसा क्यों कर रहे हो? उसने तपाक् से उत्तर दिया—मेरी अपनी इच्छा है। तुम कौन होते हो कहने वाले?

सारी दुनिया में इससे बड़ा कोई उत्तर नहीं हो सकता।

आदमी सड़क के बीच बैठ गया। पथिक ने पूछा—बीच में क्यों बैठे हो? उसने कहा—मेरी इच्छा है। कौन है रोकने वाला?

पत्नी ने पति से कहा—आप बीमार हैं। डॉक्टर ने नमक न खाने के लिए कहा है। आप क्यों खाते हैं नमक? पति ने कहा—मुझे क्या खाना है और क्या नहीं खाना है, मेरी अपनी मर्जी है। कौन होता है डॉक्टर और कौन होती हो तुम, मुझे मनाही करने वाली।

मेरी इच्छा!—यह सबसे बड़ा उत्तर है। इसके सामने सब अनुत्तर हैं। परन्तु मनुष्य ने यह अनुभव किया कि इच्छा शाश्वत नहीं है, देशातीत और कालालीत नहीं है। हर स्थान पर, हर बार इच्छा को चलाया नहीं जा सकता। इस अनुभव के परिणाम स्वरूप इच्छा पर अनुशासन करने की बात प्राप्त हुई। उसने सोचा—जो भी इच्छा जागे, जो भी तरंग उठे, जो भी विकल्प उत्पन्न हो, उसे सर्वत्र लागू नहीं किया जा सकता। उस पर नियंत्रण होना चाहिए, अनुशासन होना

चाहिए। इसके आधार पर समाज ने एक सूत्र दिया—इच्छा-परिष्कार। इच्छा का परिष्कार करना चाहिए। इच्छाएं अपरिष्कृत होती हैं। यदि इच्छा के अनुसार आदमी चलता चले तो हमारा यह सभ्य समाज आदिवासियों का समाज बनकर रह जाएगा। व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार की इच्छाएं जाग सकती हैं। यदि वह सब इच्छाओं को क्रियान्वित करता है तो समाज में कोई जी नहीं सकता। मन में मारने की इच्छा जागती है और वह किसी को मार डालता है। मन में धन लूटने की इच्छा जागती है, दूसरे के घर पर कब्जा करने की इच्छा जागती है और वह धन लूटता है, दूसरे के घर पर कब्जा करता है। पूछने पर उसका उत्तर होता है—मेरी इच्छा हुई और मैंने वैसा कर डाला। कौन है मुझे रोकने वाला, कहने वाला? इस स्थिति में न्याय की सारी व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। इसलिए समाज ने इच्छा-परिष्कार का सूत्र दिया। इच्छा का परिष्कार या शोधन होना चाहिए। इच्छा वही मान्य हो सकती है जो दूसरों की इच्छा में बाधक न बने, दूसरों को क्षति न पहुंचाए, बाधा न पहुंचाए। इच्छा के परिष्कार के बिना सभ्य समाज का निर्माण नहीं हो सकता।

कभी-कभी परिष्कृत इच्छाएं भी खतरा पैदा कर देती हैं। समाज उनको मान्य कर लेता है, पर वह उन खतरों से बच नहीं सकता। समाज द्वारा यह मान्य है कि पति-पत्नी का संगम हो सकता है। यह व्यक्ति की परिष्कृत इच्छा का नियम है। किन्तु आदमी यदि इसको सर्व सामान्य बनाकर इच्छापूर्ति करता चला जाए तो वह वासना के भंवर में गिरकर अनेक रोगों का शिकार हो सकता है। उसकी सारी कार्यजाशक्ति नष्ट हो सकती है।

इस परिस्थिति में उसे इच्छा के परिष्कार से आगे भी कुछ सोचना चाहिए।

पढ़ना है। स्वयं को अध्ययन करना है। दूसरों को कोई आपत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कोई व्यक्ति यदि चौबीस घंटा पढ़ता ही चला जाए तो उसकी आंखें खराब हो जाएंगी और मस्तिष्क विकृत हो जाएगा।

इच्छा का भी परिष्कार होना चाहिए। परिष्कृत इच्छा के लिए भी संयम और अनुशासन आवश्यक होता है।

आयुर्वेद में एक सिद्धांत के तीन अवयवों की चर्चा है। वे तीन अवयव हैं—योग, अयोग और अतियोग। अयोग हो तो कोई बात पनपती ही नहीं। किसी व्यक्ति को शिक्षा का अयोग हो तो वह नितान्त मूर्ख ही बना रहेगा। अतियोग भी हानिकारक होता है। कोई व्यक्ति रात-दिन पढ़ता ही रहे तो शक्ति-शून्यता आ जाएगी। वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। न अयोग हो और न अतियोग हो,

किन्तु योग होना चाहिए। दिन में २-४ घण्टे पढ़ा, विश्राम किया, फिर पढ़ा, फिर विश्राम किया। यह है इच्छा पर अनुशासन। योग का अर्थ है—परिष्कृत इच्छा पर नियंत्रण, संयम।

अध्यात्म का महत्त्वपूर्ण सूत्र है—इच्छा पर अनुशासन होना चाहिए। पर प्रश्न उठता है, अनुशासन का उपाय क्या है? क्या कोई जबरन नियंत्रण कर दे? नहीं। अनुशासन स्वयं जागे। मनोनुशासनम् में इसकी पूरी प्रक्रिया बताई गई है।

हमारे शरीर में इच्छा और भावना के सभी केन्द्र हैं। प्रत्येक वृत्ति का केन्द्र हमारे शरीर में है। झगड़ालू वृत्ति का केन्द्र है तो क्षमा का भी केन्द्र है। वासना का केन्द्र है तो वासना-विजय का भी केन्द्र है। अशांति का केन्द्र है तो परम शांति या निर्वाण का भी केन्द्र है। शरीर इन सब केन्द्रों से भरा पड़ा है। केवल प्रक्रिया को जानने की जरूरत है कि कौन-सा बटन दबाने से कौन-सा केन्द्र सक्रिय होता है।

सुदूर अतीत से आदमी के समक्ष एक प्रश्न आता रहा है—'मैं कौन हूँ?' इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर अनेक चर्चाएं हुई हैं, कोझं, कोझं, कोझं की रट हजारों वर्षों से हजारों साधक लगाते रहे हैं। हजारों साधकों ने अपने अस्तित्व तक पहुंचकर इस प्रश्न को सामाहित किया है। महर्षि रमण ने इस प्रश्न को बहुत उभारा। वे रटते रहे—मैं कौन हूँ? मैं कौन हूँ? उनकी पुस्तक है—हू एम आई? (Who am I?) मैं कौन हूँ?

आज मैं इसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से करना चाहता हूँ। हमें यह जानने की कोई आवश्यकता नहीं है कि मैं कौन हूँ? मैं आत्मा हूँ। मैं परमात्मा हूँ, हम इस बात को भूल जाएं। मैं कौन हूँ—इसे हम शरीर के संदर्भ में समझें। क्या मैं इच्छा-पुरुष हूँ? क्या मैं प्राण-पुरुष हूँ? क्या मैं प्रज्ञापुरुष हूँ? इसका उत्तर हमें मिल सकता है। कहीं अन्यत्र जाने की जरूरत नहीं, किसी ग्रन्थ को पढ़ने की जरूरत नहीं। कुछ भी करने की जरूरत नहीं। हम यह जान लें कि शरीर में मैं कहां हूँ, इसका उत्तर मिला तो 'मैं कौन हूँ'—इसका उत्तर अपने आप ही मिल जाएगा।

शरीर के तीन भाग हैं—१. हृदय से ऊपर का भाग, २. नाभि के पास का भाग और ३. नाभि से नीचे का भाग। साधक को सोचना चाहिए कि शरीर के इन तीनों भागों में मेरी चेतना, मेरा अन्तर्मन कहां रहता है? चेतना नाभि के ऊपर वाले भाग में अधिक रहती है या नाभि के नीचे वाले भाग में। जहां चित्त या चेतना अधिक रहेगी वहां के चक्र या चेतना-केन्द्र अधिक सक्रिय होंगे। नाभि के नीचे सक्रिय रहेगा तो वहां के केन्द्र अधिक सक्रिय होंगे। हृदय के ऊपर वाले भाग में चित्त अधिक विहरण करेगा तो वहां के चक्र अधिक सक्रिय होंगे। जहां चेतना कम हो

जाएगी, वहां निष्क्रियता व्याप जाएगी। जहां चेतना को पोषण मिलेगा, वहां जागृति होगी। जहां पोषण नहीं मिलेगा, वहां सुषुप्ति होगी। हमको केवल यही निर्णय करना है कि मैं कहां हूँ? मैं शरीर के इन तीन भागों में से किस भाग में अधिक रमण करता हूँ? इस बात का निर्णय होते ही 'मैं कौन हूँ' का उत्तर मिल जाएगा। यदि चित्त नाभि के आस-पास घूमता है तो मान लो कि तुम इच्छा-पुरुष हो। इच्छा जागृति का केन्द्र है। सारी इच्छाएं यहां जागती हैं। यह अविरति का केन्द्र है। यह चतुर्थ गुणस्थान का केन्द्र है। यहां चतुर्थ गुणस्थान उद्घाटित होता है, प्रकट होता है। यहां इच्छाएं पैदा होती हैं। बार-बार यहां आकर चित्त अटक जाता है। चित्त के कारण यहां का केन्द्र सक्रिय हो जाता है। एक इच्छा के बाद दूसरी इच्छा जागती रहती है। इच्छाओं का प्रवाह-सा उमड़ आता है, अविरति की बाढ़ आ जाती है। एक के बाद दूसरी अविरति की तरंग उठती रहती है। यहां निर्णय हो जाता है कि 'मैं इच्छापुरुष हूँ।' यहां इच्छा प्रधान होती है। इच्छाएं और इच्छाएं। और कुछ नहीं। उन पर हमारा अनुशासन नहीं।

यदि चेतना हृदय पर, कंठ पर, नासाग्र पर, भृकुटि पर, ललाट के मध्य भाग में और सिर के ऊपर विहरण करने लगती है, वहां टिकती है तो निर्णय हो जाता है कि 'मैं प्राण-पुरुष हूँ'—मैं प्रज्ञापुरुष हूँ। जब चेतना नाभि के ऊपर नासाग्र तक विहरण करती है तो प्राण-पुरुष प्रकट होता है और जब चेतना भृकुटि से ऊपर जागती है तब प्रज्ञा-पुरुष प्रकट होता है।

चेतना के विहरण क्षेत्र के आधार पर निर्णय होगा कि मैं इच्छापुरुष हूँ या प्राणपुरुष हूँ या प्रज्ञापुरुष हूँ। 'कहां है' के द्वारा 'कौन हूँ' का निर्णय होगा।

जब चेतना ऊपर सक्रिय होगी तो ऊपर के केन्द्र जाग जाएंगे और नीचे के केन्द्र सो जाएंगे। जब चेतना नीचे सक्रिय होगी तो नीचे के केन्द्र जाग जाएंगे और ऊपर के केन्द्र सो जाएंगे। जब चेतना ऊपर सक्रिय होगी तो इच्छा-केन्द्र पर अपने आप अनुशासन स्थापित हो जाएगा। सबसे बड़ी बात है—नियंत्रण के केन्द्रों का बोध होना।

एक महिला मोटर गाड़ी को तेजी से चला कर ले जा रही थी। सामने से पुलिस की गाड़ी आई। पुलिस ने कहा—इतनी तेज रफ्तार से मोटर चलाना अपराध है। महिला बोली—मैं जानती हूँ। परन्तु क्या करूँ, मोटर का नियंत्रण-केन्द्र मेरे वश में नहीं रहा। मेरे हाथ से छूट गया। इतना ही नहीं, मैं भूल ही गई हूँ कि नियंत्रण-केन्द्र है कहां? वह उसी रफ्तार से आगे बढ़ी। पेड़ से टकराई। मोटर समाप्त और साथ-साथ चालिका भी समाप्त।

जब नियंत्रण-केन्द्र हाथ से निकल जाता है तब समाप्त होने में किसी को देर नहीं लगती। जीवन की गाड़ी तब तक ही सुरक्षित चल सकती है जब तक ब्रेक या नियंत्रण-केन्द्र हाथ में रहता है। जब नियंत्रण केन्द्रों से हाथ हट जाता है तो पग-पग पर खतरा ही खतरा नजर आने लगता है।

शरीर में अनगिनत नियन्त्रण-केन्द्र हैं। मस्तिष्क सबका नियामक है। नाड़ी-संस्थान, रीढ़ की हड्डी, सुषुम्ना आदि भी नियंत्रण-केन्द्र हैं। जिस व्यक्ति ने सुषुम्ना में चित्त की यात्रा करना समझ लिया, मस्तिष्क में यात्रा करना जान लिया या शरीर के आगे-पीछे, दाएं-बाएं और ऊपर में यात्रा करना समझ लिया, उसने बहुत रहस्य समझ लिए। एक नियन्त्रण-केन्द्र शरीर के ऊपर के भाग में है, एक पीछे के भाग में है, दाएं-बाएं है, मध्य में है। हम इन पांच स्थानों पर शरीर को पारदर्शी बना सकते हैं। हमारा पूरा शरीर चुम्बकीय क्षेत्र है। वह इन पांच भागों में अधिक चुम्बकीय बन सकता है। जब वह पूरा चुम्बकीय बन जाता है तब अतीन्द्रिय चेतना पैदा होती है—अवधिज्ञान पैदा होता है। अवधिज्ञान के पांच प्रकार बनते हैं—आगे के भाग का अवधिज्ञान, पीछे के भाग का अवधिज्ञान, दाएं भाग का अवधिज्ञान, बाएं भाग का अवधिज्ञान, सिर पर का अर्थात् मध्य भाग का अवधिज्ञान। शरीर तथा शरीर के नियंत्रण-केन्द्रों को समझे बिना, इसको कभी चुम्बकीय क्षेत्र नहीं बनाया जा सकता। इसकी विद्युत् का उपयोग नहीं किया जा सकता।

इच्छाओं पर अनुशासन करने के लिए जरूरी है नियन्त्रण-केन्द्रों को समझना। इच्छा भीतर से आती है। प्राणशक्ति के साथ काम करती है। यदि प्राणशक्ति का सहारा न मिले तो इच्छा भीतर उत्पन्न होगी पर बाहर में आकर निष्क्रिय बन जाएगी। भीतर से कोई भी आता है और यदि उसे कोई सहयोग नहीं मिलता है तो वह निकम्मा बन जाता है। बड़े से बड़े व्यक्ति को भी यदि स्थानीय जनता का सहयोग प्राप्त नहीं होता है तो वह आंदमी निकम्मा बन जाता है, वह कुछ भी नहीं कर सकता। प्राणशक्ति का सहयोग अपेक्षित होता है।

एक लेखक ने संपादक को लिखा कि आपके पत्र में कहानियां छपती हैं, उनके न सिर होता है, न पैर होता है। कितनी अजीब कहानियां छपती हैं! मैं आपको अपनी कहानी भेज रहा हूँ। उसके सिर भी हैं, पैर भी हैं। सम्पादक ने पत्रोत्तर देते हुए लिखा—कहानी अच्छी है। उसके सिर भी हैं और पैर भी हैं, पर उसमें प्राण नहीं है, इसलिए वापस लौटा रहा हूँ।

सिर से भी काम नहीं चलता, पैर से भी काम नहीं चलता, यदि प्राण न हो तो। प्राण हो तो सिर भी काम का होता है और पैर भी काम के होते हैं। मुर्दे का सिर भी काम का नहीं होता और पैर भी काम के नहीं होते। प्राण के साथ ही

वे काम के होते हैं। जब प्राण की शक्ति मिलती है, तब इच्छा अपना काम करने लग जाती है। हम प्राण-शक्ति को ऐसे नियन्त्रण-केन्द्रों में संयोजित करें जिनसे हमारे ऊपरी भाग के केन्द्र जागृत हों और इच्छा पैदा करने वाला केन्द्र सो जाए, निष्क्रिय बन जाए। ऐसा होने पर इच्छा आएगी, विलीन हो जाएगी। फिर आएगी, फिर विलीन हो जाएगी। यह एक प्रक्रिया है इच्छा पर अनुशासन करने की। मनोनुशासनम् में इस प्रक्रिया को विस्तार से समझाया गया है। हम उसे पढ़ें। बहुत पढ़ना भी जरूरी नहीं है और न पढ़ना भी अच्छा नहीं है। किन्तु सबसे पहले अपने आपको जान सकें, उसे जरूर पढ़ें। जब अपने आपको भी नहीं जान पाते तो फिर पढ़ने का अर्थ क्या होगा? प्रश्न हो सकता है—मनोनुशासनम् पढ़ने की जरूरत क्या है? हम आचार्य तुलसी को जानते हैं। उन पर विश्वास है हमारा। कभी-कभी हमारा भ्रम भी हो जाता है। हम जो जानने की बात करते हैं, शायद नहीं जान पाते। किसी माध्यम से व्यक्ति को ज्यादा जान पाते हैं।

जब तक चेतना बहिर्मुखी रहेगी, हम किसी को भी नहीं जान पाएंगे, नहीं पहचान पाएंगे। न हम अपने आपको पहचान पाएंगे और न दूसरों को पहचान पाएंगे।

जब चेतना अन्तर्मुखी बनती है तब सबसे पहले अपने आपको जानने की बात प्राप्त होती है। जब हम अपने आपको जानते हैं, तब दूसरों को जानने में सुविधा हो जाती है। हमारी समस्याएं हल हो जाती हैं। स्वयं को जाने बिना हमारे मूल्यांकन की दृष्टियां यथार्थ नहीं होतीं। हम जितने भी क्राइटेरिया बनायेंगे, वे सारे अर्थशून्य होंगे। जब हम स्वयं को जान लेते हैं, तब दूसरों को पहचानने में हमें कोई कठिनाई नहीं होगी। तब हमारे सारे दृष्टिकोण यथार्थ होंगे, पहचान यथार्थ होगी।

अपने आपको जानने के लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है। अन्तर्मुखी बनने के लिए मन पर अनुशासन करना जरूरी है और मन पर अनुशासन तब फलित होता है जब इच्छा पर अनुशासन साध लिया जाता है। इसलिए अनुशासन का क्रम होगा—

* इच्छा पर अनुशासन ।

* मन पर अनुशासन ।

इसका फलित होगा—अन्तर्मुखता ।

इच्छा पर अनुशासन होने पर आहार पर अनुशासन स्वतः प्राप्त हो जाता है। जैसे-जैसे इच्छा कम होती जाएगी, आहार पर नियन्त्रण होता जाएगा। आदमी ज्यादा क्यों खाता है? इच्छा ही उसका मुख्य कारण है। आवश्यकतावश कोई अधिक नहीं खाता। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करे कि वह आवश्यकतावश कितना

खाता है और इच्छावश कितना खाता है? आश्चर्य होगा यह जानकर कि मात्र आवश्यकतावश या उपयोगितावश खाने वाला, सौ में एक व्यक्ति भी मिल पाना कठिन है। इच्छा के कारण खाने वाले शत-प्रतिशत हैं। शरीर की मांग उतनी नहीं है, जितना आदमी खाता है।

बदलाई मौसम होती है। आकाश बादलों से आच्छन्न होता है। शीतल समीर बहता है। आदमी के मन में गर्म हलवा खाने की इच्छा पैदा हो जाती है और वह भर-पेट हलवा खाता है। मौसम ने इच्छा पैदा कर दी। उपयोगिता का प्रश्न गौण हो गया। आवश्यकता का कोई प्रयोजन ही नहीं रहा। अभी-अभी भोजन से निवृत्त हुए। बाजार में गए। कोई चीज सामने आई। खाने के लिए मन ललचाया। खा ली और जब तक बाजार में रहे, दो-चार बार और खा-पी लिया। क्या वह आवश्यकतावश खा रहा है या इच्छावश खा रहा है? खाने की आवश्यकता बहुत कम होती है। यदि आदमी आवश्यकतावश ही खाए तो आने वाली अनेक समस्याएं समाहित हो जाती हैं। आवश्यकता की पूर्ति के लिए खाने से आदमी दीर्घायु होता है, रोगों से बचता है और आनन्द से जीता है।

अनुशासन का एक क्रम है—

- * इच्छा पर अनुशासन । * श्वास पर अनुशासन ।
- * आहार पर अनुशासन । * भाषा पर अनुशासन ।
- * शरीर पर अनुशासन । * मन पर अनुशासन ।
- * इन्द्रियों पर अनुशासन ।

मैं इसी क्रम से मनोनुशासनम् की व्याख्या प्रस्तुत करना चाहूंगा।

पहले हम मन पर अनुशासन करने की बात न सोचें। पहले बीज से चलें। बीज है—इच्छा। फिर हम बेल पर, पत्तों और फूलों पर ध्यान दें। फिर अन्त में फल पर ध्यान दें। इसी क्रम से साधना चले और हमारा बोधपाठ भी चले। इस प्रकार चलने से मन पर अनुशासन करना कोई कठिन कार्य नहीं रहेगा।

आहार का अनुशासन

एक भाई ने पूछा—‘मैं जैसा हूँ वैसा ही रहूंगा या बदल भी सकता हूँ?’
मैंने कहा—‘हमारी दुनिया का नियम है—परिवर्तन। हर आदमी बदल सकता है। जो बदलना चाहे वह बदल सकता है। जो बदलना नहीं चाहे, वह बदल नहीं सकता।

‘परिवर्तन शाश्वत नियम है। प्रत्येक पदार्थ में क्षण-क्षण परिवर्तन होता है। पर आदमी जिस दिशा में परिवर्तन लाना चाहे उस दिशा में परिवर्तन ला सकता है। तुम भी बदल सकते हो।’

उसने पूछा—‘कैसे बदल सकता हूँ। कुछ उपाय बताएं। क्या आदतें बदली जा सकती हैं?’

मैंने कहा—‘बहुत अच्छी तरह से बदली जा सकती हैं। यदि आदतें न बदलें तो पुरुषार्थ का कोई अर्थ ही नहीं होता, अस्तित्व का कोई अर्थ ही नहीं होता। सब अर्थशून्य हो जाता है, यदि आदमी न बदले या न बदल सके। पुरुषार्थ की गाथा इसलिए गाई जाती है कि असंभव लगने वाली बात भी उसके द्वारा संभव बन जाती है। आदत को बदलने के लिए आहार-शुद्धि करनी होती है।’

उसने पूछा—बड़ा आश्चर्य होता है, आदतों को बदलने में आहार-शुद्धि से क्या संबंध है? खाता हूँ अपनी रुचि के लिए, खाता हूँ स्वाद के लिए, खाता हूँ जिह्वा की तृप्ति के लिए। फिर आदतों का इससे क्या संबंध? आदतें कहीं, खाने का प्रश्न कहीं। यह बिलकुल बेमेल-सा लगता है।

मैंने कहा—बेमेल है, यह हमारी स्थूलबुद्धि का निर्णय है। वास्तव में यही यथार्थ है। जिस व्यक्ति ने आहार-शुद्धि नहीं की, वह कभी अपनी आदत को नहीं बदल सकता। गहरा संबंध है आहार का और आदतों का। आदतें बनती हैं चैतन्य-केन्द्रों के स्रोतों के द्वारा। हमारे मस्तिष्क में अनेक बिन्दु हैं, केन्द्र हैं। वे हमारी प्रवृत्तियों का संचालन करते हैं। आदमी नींद लेता है। नींद का नियामक केन्द्र है मस्तिष्क में। आदमी हंसता है, रोता है, सोचता है, चिंतन करता है। इन सबके अलग-अलग केन्द्र हैं। स्मृति का केन्द्र है, कल्पना का केन्द्र है, बुद्धि का केन्द्र है। जितनी मानसिक प्रवृत्तियां हैं, उन सबके केन्द्र हैं मस्तिष्क में। जो केन्द्र सक्रिय हो जाता है, जाग जाता है आदमी वैसा ही बन जाता है। सारे जीवन का संचालन इन मस्तिष्कीय केन्द्रों द्वारा होता है। सारे केन्द्र विद्युतीय आवेशों के द्वारा और रसायनों के द्वारा जागते हैं। मस्तिष्क के अपने रसायन हैं। जैसे शरीर को

भोजन की अपेक्षा होती है वैसे ही मस्तिष्क को भी भोजन की अपेक्षा होती है। शरीर को टॉनिक चाहिए तो मस्तिष्क को भी टॉनिक चाहिए। आज के वैज्ञानिक मस्तिष्क के टॉनिकों की खोज में लगे हुए हैं। प्राचीन काल में अतीन्द्रिय-ज्ञानियों ने भी इस विषय में अनेक खोजें की थीं। आयुर्वेद के ग्रंथ इन खोजों से भरे पड़े हैं। इन ग्रन्थों में मस्तिष्कीय टॉनिक और नाड़ी-संस्थान को बल-अबल देने वाले पदार्थों के विषय में बहुत लम्बी चर्चा उपलब्ध होती है।

मस्तिष्क का संबंध है विद्युत् के आवेशों से और रसायन से। रसायन बनते हैं आहार से। इस प्रकार आहार का सम्बन्ध जुड़ गया। जैसा आहार वैसा रसायन, जैसा रसायन वैसी मस्तिष्कीय क्रिया और जैसी मस्तिष्कीय क्रिया वैसा हमारा आचार-व्यवहार, विचार और आदतें। यह एक पूरा चक्र है।

आहार को समझे बिना आदतों को नहीं बदल सकते। आहार-शुद्धि किए बिना स्वभाव का परिवर्तन नहीं हो सकता। आदमी दूसरे-दूसरे कितने ही परिवर्तन करे, स्वभाव नहीं बदलेगा जब तक कि वह अपने आहार के क्रम को नहीं बदल देता। दोनों का गहरा सम्बन्ध है। सबसे पहले हमारा ध्यान आहार पर केन्द्रित होना चाहिए। आहार का अर्थ बहुत व्यापक है। केवल मुंह से खाना ही आहार नहीं है। हम जो कुछ बाहर से ग्रहण करते हैं वह सारा आहार है। नथुनों से जो श्वास लेते हैं, वह भी आहार है। बोलने के लिए बाह्य वातावरण से भाषा के योग्य परमाणु लेते हैं, वह भी आहार है। चिंतन के लिए मानसिक परमाणुओं को संगृहीत करते हैं, वह भी आहार है। प्राण का आकर्षण, भाषा का आकर्षण, चिन्तन के परमाणुओं का आकर्षण आदि-आदि सभी आहार हैं। इस व्यापक अर्थ में हम आहार को समझें। इसको समझ लेने पर सारी समस्याएं सुलझ जाएंगी।

आहार-मस्तिष्क को अत्यधिक प्रभावित करता है। आदमी ने शराब पी। मस्तिष्क का नियंत्रण ढीला हो गया। वह पागल बन गया। पागल किसने बनाया? भोजन ने उसे पागल बना दिया। शराब भी एक प्रकार का भोजन है, आहार है। भांग पी। आकाश-पाताल एक हो गए। सारा संसार घूमने लगा। यह भी आहार के कारण ही हुआ। भांग भी एक प्रकार का आहार है। मादक द्रव्यों के परिणामों से हम परिचित हैं। किसी व्यक्ति की स्मृति कमजोर है। वह ब्राह्मी का प्रयोग करता है, शंखपुष्पी का प्रयोग करता है, स्मृति बढ़ जाती है। आज के वैज्ञानिक स्मृति को बढ़ाने वाले अनेक प्रकार के रसायनों की खोज कर रहे हैं और वे साथ ही साथ स्मृति घटाने वाले रसायनों की खोज भी कर रहे हैं। उनका मानना है कि बुद्धि और स्मृति सबके लिए जरूरी नहीं होती। जो चोर हैं, लुटेरे हैं, हत्यारे हैं, खूंखार हैं, उनकी स्मृति को कम कर दिया जाए, जिससे अपराध कम हो सके। इस स्थिति

को घटित करने के लिए वे स्मृति घटाने वाले रसायनों की खोज कर रहे हैं। इसी प्रकार स्मृति को वृद्धिगत करने वाले रसायनों की खोज भी चल रही है। आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति के अनुसार स्मृति बढ़ाने वाले द्रव्य ये हैं—गोरखमुंडी, सतावरी, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि-आदि। आज के वैज्ञानिक इस खोज में पूरी तन्मयता से लगे हुए हैं कि कौन-सा रसायन क्या कार्य करता है? उसके आधार पर वे विभिन्न रसायनों का निर्माण कर रहे हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने पदार्थों की खोज की और उन पदार्थों के द्वारा रसायनों को पैदा करने का उपाय बताया। प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है, मूल बात एक ही है कि उन खोजों के द्वारा, उन पदार्थों के द्वारा मस्तिष्क में विशेष प्रकार के रसायनों का निर्माण करना और मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाना या घटाना। दोनों कार्य हो सकते हैं, मस्तिष्कीय शक्ति का विकास भी हो सकता है और ह्रास भी हो सकता है।

शारीरिक दृष्टि से भोजन के प्रभावों की जितनी खोजें हुई हैं, उतनी खोजें मनुष्य के स्वभाव को रूपान्तरित करने की दिशा में कम हुई हैं। आयुर्वेद में भी कम हुई हैं और एलोपैथिक में भी कम हुई हैं।

आयुर्वेद के आचार्यों ने भोजन के अनेक प्रकार बतलाए हैं—जीवनीय, बृंहणीय, दीपनीय, बल्य आदि-आदि।

एक प्रकार का भोजन वह होता है जो जीवनशक्ति को बढ़ाता है, उसको बनाए रखता है। एक प्रकार का भोजन वह होता है जो बृंहणीय होता है, शरीर को पुष्ट करने वाला होता है। दीपनीय भोजन अग्नि का दीपन करता है। एक प्रकार का भोजन वह होता है जो बल की वृद्धि करता है, और भी अनेक प्रकार हैं।

द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं—शमन करने वाले, कुपित करने वाले, संतुलन रखने वाले। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जो वात, पित्त और कफ का शमन करते हैं, कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जो वात, पित्त और कफ को कुपित करते हैं। कुछ द्रव्य ऐसे होते हैं जो वात, पित्त और कफ को सम अवस्था में रखते हैं, संतुलित रखते हैं, इनके संतुलन को बिगड़ने नहीं देते।

पित्त को कुपित करने वाले द्रव्य क्रोध को भी कुपित करते हैं, पित्त और क्रोध का गहरा संबंध है। जिस व्यक्ति का पित्त कुपित होता है, उसका क्रोध भी कुपित होता है। जिस व्यक्ति का कफ कुपित होता है, उसका लोभ भी कुपित होता है। कफ को कुपित करने वाले द्रव्य लोभ को भी कुपित करते हैं। कुछ व्यक्ति लालची होते हैं। हजार बार उपदेश सुन लेने पर भी उनकी लालची मनोवृत्ति में कोई अन्तर नहीं आता। वे बेचारे क्या करें? उनमें कफ का प्रकोप बना रहता है तब वे उस लालची मनोवृत्ति से कैसे छुटकारा पा सकते हैं? मनोवृत्ति नहीं

बदलती। कफ का प्रकोप शांत होते ही लालच की वृत्ति में अन्तर आ जाएगा। कफ और लालच का गहरा संबंध है। वायु को कुपित करने वाले द्रव्य व्यक्ति में निराशा को जन्म देते हैं। जिस व्यक्ति में वायु कुपित रहता है वह व्यक्ति निराश, डिप्रेशन से ग्रस्त, मानसिक अवसाद से युक्त होता है। वायु का और इन सब दोषों का गहरा सम्बन्ध है।

आदमी का जीवन भोजन से बहुत बंधा हुआ है। आतिथ्य सत्कार भी इससे प्रारम्भ होता है। दो आदमी या दो औरतें जहां भी मिलती हैं, भोजन की चर्चा चल पड़ती है।

एक बार एक व्यक्ति ने अपने मित्र को भोजन के लिए आमंत्रित करते हुए कहा—शादी है, भोजन करने जरूर आना। ठीक समय पर मित्र पहुंच गया। उसने देखा निमंत्रण देने वाला मित्र गधे को रगड़-रगड़ कर नहला रहा है। उससे पूछा—क्या कर रहे हो? उत्तर मिला—गधे की आज शादी है। इसे नहला रहा हूँ। अरे, गधे की शादी है! भोजन का निमंत्रण दिया था। क्या खिलाओगे?’ मित्र! उतावले मत हो। जो दुल्हा खायेगा वही तुम्हें खिलाऊंगा।’

भोजन की चर्चा जितनी व्यापक है उतनी व्यापक और कोई चर्चा नहीं है।

भक्तकथा अर्थात् भोजन की कथा। यह कथा अकारण नहीं होती। आदमी भोजन से इतना बंधा हुआ है, जितना वह और किसी से बंधा हुआ नहीं है। भोजन से शरीर बनता है, रक्त बनता है, मांस बनता है और सारी धातुएं बनती हैं। सात धातुओं से परे जो ओज है वह भी भोजन से बनता है। ओज को आज की भाषा में विद्युत् कहा जाता है। सारे रसायन भोजन से निष्पन्न होते हैं।

जीवन का पूरा चक्र भोजन से संचालित होता है। हमारी सारी वृत्तियां भोजन से संचालित होती हैं। भोजन के आधार पर पूरे व्यक्तित्व का अंकन किया जा सकता है। जिस व्यक्ति ने भोजन का यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया वह अपने व्यक्तित्व को भी कैसे समझ सकता है? वह अपनी आदतों का विश्लेषण या रूपान्तरण कैसे कर सकता है?

जिज्ञासु ने पूछा—‘इतनी लम्बी चर्चा के बाद यह स्पष्ट समझ में आ गया कि आदतों को बदलने के लिए आहार की शुद्धि बहुत आवश्यक है। पर आप यह बताएं कि आहार-शुद्धि का तात्पर्य क्या है?’

मैंने कहा—‘मेरे शब्दों में नहीं, मनोनुशासनम् ग्रन्थ के संदर्भ में बता रहा हूँ कि जो भोजन हित, मित और सात्विक होता है, वह आहार-शुद्धि है। जो आहार हितकारी होता है, परिमित होता है और सात्विक होता है वही आहार शुद्ध होता है। यही आहार-शुद्धि है।’

पूछने वाला इतने से संतुष्ट नहीं हुआ। उसके मन में अनेक प्रश्न और उभरे। प्रश्नकर्ता स्वतंत्र होता है, उत्तरदाता परतंत्र। उसने आगे पूछा—हित आहार की परिभाषा क्या है?

मैंने कहा—हित क्या है—इसकी व्याख्या बहुत लम्बी है। किस दृष्टि से कहा जाए कि हित क्या है? हमारे शरीर के महत्त्वपूर्ण अंग हैं—मस्तिष्क, हृदय, लीवर, फेफड़े, तिल्ली और गुर्दे। इन्द्रियां—आंख, कान, नाक, जीभ और त्वचा—ये सभी मुख्य हैं। पूरा नाड़ी संस्थान का भी अपना महत्त्व है। इन सबकी दृष्टि से एक साथ हितकर की व्याख्या नहीं की जा सकती। मस्तिष्क के लिए कुछेक पदार्थ हितकर होते हैं। नाड़ी-संस्थान के लिए भिन्न-भिन्न पदार्थ हितकर होते हैं। ज्ञानवाही नाड़ियों के लिए जो पदार्थ हितकर हैं वे क्रियावाही नाड़ियों के लिए हितकर नहीं भी होते। हृदय के लिए कोई एक पदार्थ हितकर होता है तो आंख के लिए कोई दूसरा ही पदार्थ हितकर होता है। बहुत विशाल ज्ञान करना होता है कि किस अवयव को कौन-सा पदार्थ हितकर है।

कुछेक व्यक्ति एकांगी दृष्टि से 'हित' की बात को पकड़ लेते हैं। कई वैद्य कहते हैं—पिप्पल बहुत हितकर होता है। मंदाग्नि हो, पाचन की कमी हो तो पिप्पल का सेवन हितकर होता है। बात ठीक है। पर इसकी भी एक सीमा है। मंदाग्नि के समय पिप्पल का सेवन हितकर हो सकता है। परन्तु जब वह बीमारी मिट गई और व्यक्ति प्रतिदिन उसका सेवन करता ही रहे तो वह पिप्पल भी दोष-संग्रहकारक हो जाएगी। हित की बात देश, काल और मात्रा के साथ जुड़ी हुई होती है। देश, काल और मात्रा की उपेक्षा कर हित की बात नहीं सोची जा सकती।

किसी स्थिति में नमक या क्षार खाना आवश्यक होता है। पर आदमी यदि नमक का सेवन करता ही रहे तो उसे अनेक व्याधियों का सामना करना पड़ता है। आयुर्वेद के अनुसार हृदयशूल का रोग नमक के अधिक सेवन से होता है। अधिक नमक खाने वाला खल्वाट हो जाता है, गंजा हो जाता है। नमक गुर्दे को कमजोर कर देता है। हृदय के विभिन्न रोगों में नमक कारणभूत होता है। आयुर्वेद का सिद्धांत है—पिप्पलक्षारलवणानि, नाधिकानि भोज्यानि—ये तीनों अधिक मात्रा में नहीं खाने चाहिए। तीनों हितकर हैं, यदि उनका सेवन मात्रा सहित किया जाता है। तीनों अहितकर हैं, यदि उनका सेवन मात्रा का अतिक्रमण कर किया जाता है। प्राचीन साहित्य में उल्लेख मिलता है कि सौराष्ट्र के लोग नमक का बहुत सेवन करते थे। वे चीनी के स्थान पर नमक का प्रयोग करते थे। दूध में भी नमक डालकर पीते थे। इसलिए वे पुंस्त्व को खो डालते और हृदयशूल के शिकार भी हो जाते। कहीं-कहीं नमक का ही शाक बनाया जाता है। जैसे मटर और घीये का

शाक होता है वैसे ही नमक का शाक होता है। उसमें भी नमक-मिर्च डाले जाते हैं। नमक को भी नमकीन बनाने का प्रयत्न होता है। इस शाक को वे बड़ी रुची से खाते हैं। यह शाक किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं होता। यह स्वादिष्ट अवश्य होता है, पर हितकर नहीं। मांसाहारी लोग नमक बहुत खाते हैं। मांस को पचाने के लिए नमक की अधिक जरूरत होती है। इसलिए मांसाहार का अर्थ होता है अनेक बीमारियों को निमंत्रण देना।

हितकर या अहितकर की व्याख्या एकांगी दृष्टि से नहीं की जाती है। अनेक दृष्टियों से उसकी व्याख्या करनी होती है। देश की दृष्टि से हितकर, काल की दृष्टि से हितकर, सार की दृष्टि से हितकर, अवस्था की दृष्टि से हितकर। बच्चे के लिए प्रोटीन की अत्यधिक आवश्यकता होती है। दूध की भी आवश्यकता होती है। पर कोई व्यक्ति बचपन पार कर युवावस्था में चला जाता है और प्रोटीन का अत्यधिक सेवन करता है तो वह अनेक रोगों को निमन्त्रित करता है। अवस्था, काल तथा अन्यान्य स्थितियों को ध्यान में रखकर जब मात्रा सहित किसी पदार्थ का उपयोग करते हैं तो भोजन हितकर होता है। दूध अच्छा भोजन है। परन्तु उसको कब, कितनी मात्रा में लेने का सापेक्ष दृष्टिकोण नहीं होता है तो वह अच्छा भी बुरा बन जाता है। अमृत भी विष बन जाता है।

दूसरा प्रश्न है, मित भोजन क्या है? हित के साथ मित जुड़ा हुआ है। यह मात्रा-बोध का सूचक है। कौन-सी वस्तु कितनी मात्रा में लेनी चाहिए, इसका ज्ञान आवश्यक है। मुनि के लिए भोजन का एक दोष है—प्रमाणातिक्रान्त। मुनि प्रमाण से अतिरिक्त भोजन करता है तो वह इससे स्पष्ट होता है। आयुर्वेद के अनुसार 'अधिक खाना' भोजन का एक दोष है। अधिक खाने वाला अनायास ही अनेक रोगों को निमन्त्रित कर लेता है।

भोजन के दो प्रकार हैं—हल्का या लघु भोजन और गरिष्ठ भोजन। लघु भोजन वायु प्रधान होता है। उसमें अग्नि तत्त्व अधिक होता है, इसलिए वह सुपाच्य होता है। गरिष्ठ भोजन या भारी भोजन जल-प्रधान होता है। वह न वायुप्रधान होता है और न अग्नि तत्त्व प्रधान। इसलिए वह दुष्पाच्य होता है। अधिक खाने पर वह विकृतियां पैदा करता है। राजस्थान प्रान्त के कुछेक लोग बहुत मिठाइयां खाते हैं। भोज और मिठाई पर्यायवाची जैसे बन गए हैं। ऐसा भी आतिथ्य नहीं जहां मिठाई का भोजन न हो। बिना मिठाई के निमन्त्रण ही कैसा? वे अत्यधिक मिठाई खाते, दूध-दही-मक्खन खाते। सारी चीजें गरिष्ठ ही गरिष्ठ। परिणाम यह हुआ कि वे लोग जब तीस-चालीस वर्ष के होते तो बूढ़े जैसे लगने लग जाते। बुढ़ापे का अनुभव होने लग जाता। शक्तिहीनता के वे शिकार हो जाते। चालीस वर्ष बाद

किसी की मृत्यु होती तो माना जाता कि कोई बात नहीं, अवस्था-प्राप्त था। आज यह मान्यता बदल चुकी है। आज चालीस से साठ वर्ष तक का आदमी युवा माना जाता है। गरिष्ठ भोजन आदमी को अकाल में बूढ़ा बना देता है। गरिष्ठ भोजन देखने में सुन्दर, खाने में स्वादिष्ट होता है, पर उसमें अग्नि तत्त्व पर्याप्त मात्रा में नहीं होते, अतः वह पूरा पचता नहीं। अर्धपक्व भोजन विकृति पैदा करता है, और असमय में ही आदमी काल-कवलित हो जाता है।

भोजन-विज्ञान में मात्रा का विवेक बहुत जरूरी है। हलके या लघु भोजन की मात्रा भी अधिक नहीं होनी चाहिए। गरिष्ठ भोजन की मात्रा तो और भी कम होनी चाहिए। पर सामाजिक व्यवहार भी अजीब होता है। दस-बीस मित्र मिलते हैं, एक साथ भोजन करने बैठते हैं तो फिर मात्रा का विवेक रहता ही नहीं। कौर देने वाले का दौर चलता है और उदर-कूप जो भर चुका है, उसको और ठूस-ठूस कर भरा जाता है। जब आदमी गले तक भर जाता है तब खाने से हाथ खींचता है। यह इसलिए चलता है कि आदमी को आहार की मात्रा का पूरा ज्ञान नहीं है। हम जाने-अनजाने इस प्रक्रिया से अपने प्रिय व्यक्ति के प्रति भी इतनी शत्रुता का व्यवहार कर देते हैं कि जितना शत्रु, शत्रु के साथ नहीं करता। शत्रु इतना अनिष्ट कर ही नहीं पाता, क्योंकि उसकी प्रत्येक क्रिया को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है। परन्तु मित्र या प्रिय व्यक्ति की क्रिया में यह सन्देह नहीं होता। सब कुछ अच्छा लगता है। वह एक ओर अनेक बीमारियों को निमन्त्रण देता है और दूसरी ओर प्रियता की अनुभूति करता है। वह सोचता है, आज जैसा स्वागत पीछे कभी नहीं हुआ। बड़ा मजा आया। कितना स्वादिष्ट था भोजन! कितनी बढ़िया थी सारी सामग्री! वह भूल जाता है कि भोजन के माध्यम से उसने अनेक बीमारियों को निमन्त्रण दिया है। मात्रा का विवेक बहुत आवश्यक होता है।

तीसरी बात है कि भोजन सात्विक होना चाहिए। यह तथ्य गहरे अनुसंधान के बाद प्रकट हुआ है। जो भोजन चित्त-वृत्तियों में विकृति पैदा न करे, वह होता है सात्विक भोजन। जिस भोजन से शुक्ल लेश्या के विचार जागे, पद्मलेश्या के प्रकंपन उठे, वह होता है सात्विक भोजन। जिस भोजन के खा लेने पर मन दूषित हो, बुरे विचार आए, उत्तेजना और वासना उभरे, क्रोध और लालच की भावना उग्र हो, हिंसा के भाव जागे, वह भोजन तामसिक या राजसिक होता है। कृष्ण, नील और कापोत लेश्या को उभारने वाला भोजन सात्विक नहीं होता। वह होता है तामसिक। वह शरीर के नीचे के केन्द्रों को सक्रिय करता है। सात्विक भोजन शरीर के नाभि के ऊपर के केन्द्रों को जगाता है, सक्रिय करता है। इस भोजन से आनन्दकेन्द्र, विशुद्धिकेन्द्र, ज्ञानकेन्द्र, दर्शनकेन्द्र और ज्योतिकेन्द्र सक्रिय

होते हैं। भोजन के साथ, शरीर का, चैतन्य-केन्द्रों का, वृत्तियों का कितना गहरा सम्बन्ध है, इसे जानना आवश्यक है।

आदमी के पास अपार सम्पदा है, भंडार भरा हुआ है, फिर भी वह भिखारी बना हुआ है। वह भिखारी, जो अच्छी आदतों को दूसरों से मांगता है, बुद्धि और स्मृति को दूसरों से मांगता है। खोजता फिरता है कि बुद्धि का विकास कैसे हो? स्मृति कैसे बढ़े? अच्छा स्वभाव कैसे बने? अच्छी आदत कैसे पनपे? वह खोजता फिर रहा है। वह अपनी सम्पदा की ओर ध्यान ही नहीं देता। वह पूरा भिखारी है। जो दूसरों से मांगता है वह भिखारी होता है। चौराहे पर बैठकर रोटी-पैसे मांगने वाला ही भिखारी नहीं होता। मांगने वाला हर आदमी भिखारी होता है।

एक भिखारी बैठा था। उसी रास्ते से राजा की सवारी निकल रही थी। पुलिस ने आकर कहा—यहां से हटो। राजा की सवारी आ रही है। भिखारी बोला—क्यों हटूँ? रास्ता सबका है। मैं नहीं हटता। राजा कौन होता है हटाने वाला? पुलिस ने कहा—‘राजा वह होता है जो चाहे सो कर सके। वह इतना समर्थ होता है कि चाहे जिसको देश से निकाल सकता है।’ भिखारी बोला—अच्छा, इतना समर्थ होता है राजा! तो एक काम करो कि इस राज्य में जितने मच्छर हैं, जितनी मक्खियां हैं, उन सबको निकाल दो। यदि वह ऐसा कर देगा तो मैं समझूंगा कि वह राजा है। पुलिस वाला देखता ही रह गया कि कैसा विचित्र है यह भिखारी! पुलिस वाला बोला—यह तो सम्भव नहीं है। हमारा राजा ऐसा है जिसके महलों पर रात-दिन पहरा लगता है। भिखारी ने हंसते हुए कहा—वह कैसा राजा! वह तो कैदी है। जेल में रात-दिन पहरा होता है। राजा से कहो, वह पहरा हटा दे।

इतने में राजा की सवारी पास आ गई। भिखारी राजा के साथ चल पड़ा। रास्ते में एक धर्म-स्थान था। राजा वहां उतरा। अन्दर गया। भगवान की मूर्ति के समक्ष प्रणाम किया और हाथ जोड़कर बोला, ‘प्रभो! कृपा करें। मेरी सम्पत्ति बढ़े, परिवार बढ़े, वैभव बढ़े, सुख-सुविधा बढ़े।’ वह याचना करता ही रहा। भिखारी कोने में खड़ा-खड़ा सुन रहा था। राजा उठा। बाहर आया। भिखारी को देखकर बोला—मांगने आये हो? मांगो। मिलेगा। भिखारी बोला—आया था मांगने। यही सोचा था कि राजा है, अमीर होगा। वैभवशाली होगा। मुझे देगा। मेरा दारिद्र्य मिट जायेगा। पर मैंने देखा ही नहीं, स्वयं सुना है कि आप तो बहुत बड़े भिखारी हैं। मैं छोटा भिखारी हूँ। आप बड़े भिखारी हैं।

आज का आदमी इसी स्थिति से गुजर रहा है। उसके पास शक्तियों का अखूट खजाना है। पर दूसरों से निरन्तर याचना करता चला जा रहा है। वह अपनी शक्तियों को पहचान सकता है, यदि उसमें साधना का भाव जागे। साधना का

अर्थ है—अपनी शक्तियों को पहचानने का प्रयत्न। अपने भीतर अनन्त ज्ञान है, अनन्त आनंद है, अनंत शक्ति है। जब वह उनको पहचानने के लिए पहला कदम उठाता है, तब वह अपने आपको पहचानने में समर्थ होता है।

ध्यान की साधना अपने आपको पहचानने का महान अनुष्ठान है। इस अनुष्ठान की सफलता तभी है जब आदमी अपने आपको बदल दे, रूपांतरित कर दे। रूपांतरण के लिए आहार-शुद्धि का अभ्यास आवश्यक है। हित आहार, मित आहार और सात्विक आहार के अभ्यास से रूपांतरण घटित होने लगता है। जैसे-जैसे यह अभ्यास बढ़ता है, शरीर की विद्युत् बदलती है, रसायन बदलते हैं, चैतन्य-केन्द्रों की सक्रियता बढ़ती है। जो केन्द्र सोने योग्य होते हैं, वे सो जाते हैं और जो जागने योग्य होते हैं, वे जाग जाते हैं। नीचे के केन्द्र सो जाते हैं और ऊपर के केन्द्र जाग जाते हैं। जिस दिन यह जागृति होती है, उस दिन नई दुनिया का अनुभव होता है, नये जीवन की अनुभूति होती है और तब आदमी इस स्वर में कह सकता है—जो सम्पदा आज तक नहीं मिली, वह आज हस्तगत हो गई। जो जागृति आज तक नहीं आई, वह आज घटित हो गई।

जिज्ञासा समाधान

प्रश्न:—आहार के द्वारा रसायन बदलते हैं और रसायनों से प्रवृत्तियां बदलती हैं। आज कृत्रिम रसायनों के द्वारा प्रवृत्तियों के बदलने के प्रयोग चल रहे हैं। फिर उनमें और ध्यान में अन्तर क्या रहा?

उत्तर:—रसायनों का निर्माण केवल आहार के द्वारा ही नहीं होता, भावना के द्वारा भी महत्त्वपूर्ण ढंग से होता है। हम भावनाओं के द्वारा भी महत्त्वपूर्ण रसायनों को निर्मित कर सकते हैं, रसायनों को बदल सकते हैं। रसायनों को बदलने की सबसे उचित प्रक्रिया है ध्यान। आहार ध्यान में सहायक बनता है। उचित आहार के द्वारा उचित रसायनों का निर्माण होता है। उससे ध्यान में सहयोग मिलता है, प्रवृत्तियों की निर्मिति में और उनके रूपांतरण में सहयोग मिलता है। कृत्रिम रसायन निरापद नहीं होते। उनके साथ खतरे भी जुड़े हुए हैं। इस तथ्य को स्वयं वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं। गोबर की खाद स्वाभाविक होती है। उससे बहुत अच्छा अनाज पैदा होता है। कृत्रिम खादों से अनाज के साथ-साथ विष भी पैदा होता है। कृत्रिम खाद की तरह ही है कृत्रिम रसायन। वे खतरे से खाली नहीं हैं। कृत्रिम रसायनों का अधिक प्रयोग चूहों पर, बन्दरों पर हो रहा है। अभी मनुष्यों पर विशेष प्रयोग नहीं हो रहे हैं। खतरे बहुत लगते हैं।

स्वाभाविक भोजन और ध्यान की प्रक्रिया के द्वारा यदि हम रसायनों को बदलते हैं तो यह अत्यन्त निरापद और लाभप्रद होता है।

प्रश्न:- अतीन्द्रिय ज्ञान (अवधि ज्ञान) के आपने पांच प्रकार बतलाए—आगे का, पीछे का, दाएं का, बाएं का और नीचे का। बात समझ में नहीं आई। स्पष्ट करें।

उत्तर:- जब अवधिज्ञान की उपलब्धि होगी तब पूरी बात समझ में आएगी। किंतु कुछेक तथ्य तो अवश्य ही ज्ञात हुए हैं। हमारे शरीर में जो नाड़ी-संस्थान हैं, उसमें एक है सेन्ट्रल नर्वस सिस्टम—केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान। शरीर के दाएं-बाएं दो नाड़ी संस्थान हैं—सिम्पेथेटिक और पेरासिम्पेथेटिक। इनमें से जो शाखाएं निकली हैं वे आगे भी हैं। चैतन्य-केन्द्रों का उद्गम पीछे से प्रारम्भ होता है और आगे तक आ जाता है। इसलिए प्रेक्षाध्यान के सन्दर्भ में हम शरीर के आगे के भाग में भी ध्यान करते हैं और पीछे के भाग में भी ध्यान करते हैं। ध्यान जब परिपक्व होता है तब दाएं-बाएं भी ध्यान करना होता है। ऊपर (सिर पर) भी ध्यान करते हैं। इस प्रकार साधना का उद्देश्य होता है—शरीर को स्फटिक-सा पारदर्शी बना देना।

अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि के लिए शरीर को पारदर्शी बनाना आवश्यक होता है। जब तक शरीर पारदर्शी नहीं हो जाता, जब तक शरीर के मुख्य केन्द्रों को चुम्बकीय क्षेत्र नहीं बना दिया जाता तब तक ज्ञान की रश्मियां छनकर बाहर नहीं आ सकतीं। दीया जल रहा है। उस पर सघन ढक्कन लगा दिया तो प्रकाश बाहर नहीं आयेगा, भीतर ही रह जायेगा। यदि उस दीये पर जालीदार ढक्कन लगा दिया जाता है तो प्रकाश छन-छन कर बाहर आएगा और यदि ढक्कन पारदर्शी है तो प्रकाश चारों ओर से फैलेगा।

ज्ञान के प्रगटीकरण के लिए चैतन्य-केन्द्रों को निर्मल बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

कुछ लोग पूछते हैं, जैन साधना पद्धति में चैतन्य-केन्द्रों की चर्चा कहां है? उन्हें ज्ञान होना चाहिए कि अवधिज्ञान की सारी चर्चा चैतन्य-केन्द्रों की चर्चा है। पांच प्रकार से अभिव्यक्त होने वाले अवधिज्ञान की चर्चा चैतन्य केन्द्रों की चर्चा है। निशीथ और नन्दी के चूर्णिकार ने अतीन्द्रिय ज्ञान को इन्हीं उदाहरणों से समझाया है कि दीये पर रखे हुए जालीदार ढक्कन से जैसे प्रकाश-रश्मियां बाहर फैलती हैं। वैसे ही शरीर का जो भाग, जो केन्द्र निर्मल हो जाता है उसमें से ज्ञान-ज्योति की रश्मियां फैलती हैं। इसलिए अवधिज्ञान के दो मुख्य विकल्प किए गए—

० देशावधि—शरीर के एक भाग से होने वाला ज्ञान।

० सर्वावधि—समूचे शरीर से प्रकट होने वाला ज्ञान।

शरीर के किसी भी भाग से वह ज्ञान प्रगट हो सकता है। एक अंगुली से

अवधिज्ञान हो सकता है। अंगुली इतनी पारदर्शी बन जाती है कि उससे ज्ञान की रश्मियाँ निकलने लगती हैं। अंगुली को काम में मत लो, अवधिज्ञान नहीं होगा। साधना के क्षेत्र में यह बहुत महत्त्वपूर्ण चर्चा है।

प्रश्न:- चित्त और मन में क्या अन्तर है? इच्छा कैसे पैदा होती है?

उत्तर:- चित्त है स्वामी। मन है उसका नौकर। चित्त है चेतना का तन्त्र और मन है मस्तिष्क के द्वारा क्रिया करने वाला तन्त्र। यह चेतना का तन्त्र नहीं है, किन्तु शरीर का तन्त्र है जिसमें चेतना आती है। चित्त है शरीर के साथ काम करने वाली चेतना।

इच्छा की उत्पत्ति का स्रोत बहुत गहरे में है। इच्छा इस शरीर में पैदा नहीं होती। इच्छा पैदा होती है अवचेतन में। अध्यात्म की भाषा में कहा जा सकता है कि इच्छा पैदा होती है अध्यवसाय में, लेश्या में। इच्छा का सम्बन्ध केवल वर्तमान शरीर से नहीं, वर्तमान जीवन से नहीं, किन्तु अतीत के अनेक जन्मों तथा अतीत के साथ काम करने वाले सूक्ष्म शरीरों के साथ जुड़ा होता है। इसलिए इच्छा बाहर के निमित्तों से भी हो सकती है और आंतरिक निमित्तों से भी हो सकती है। भीतर में इच्छा का अजस्र स्रोत बह रहा है, निमित्त के मिलने पर इच्छा बाहर प्रकट हो जाती है। बहुत गहरे में उतरकर हमें इच्छा का अध्ययन करना होगा।

इन्द्रिय अनुशासन

एक युवक मेरे सामने खड़ा था। मैंने पूछा—तुम कौन हो? उत्तर मिला—मैं अध्यात्म का जिज्ञासु हूँ। मैंने कहा—फिर ललाट पर शिकन कैसे? उसने कहा—उलझनें उभर रही हैं। मैंने पूछा—अध्यात्म उलझनों को मिटाने का उपाय है। अध्यात्म का जिज्ञासु उलझनों में उलझा रहे, उसके चेहरे पर विषाद की रेखाएं खचित रहें, इसका क्या कारण है? कुछ समझ में नहीं आता। उसने कहा—बात सही है। मैंने इस क्षेत्र में प्रवेश किया था उलझनों को मिटाने के लिए, किन्तु मैं तो और अधिक उलझ गया।

मैंने पूछा—यह कैसे हुआ? उसने कहा—मैं विज्ञान का विद्यार्थी हूँ। मैं अध्यात्म के क्षेत्र में इस आशा से उतरा था कि अध्यात्म से जीवन सरस बनेगा, रसमय बनेगा। किन्तु जैसे-जैसे अध्यात्म के ग्रन्थ पढ़े, मुझे नीरस तथ्य ही मिले। उनमें रसहीन जीवन की प्रक्रियाएं ही मिलीं। मैंने उत्तराध्ययन पढ़ा। उसमें मिला 'रसापगामं न निसेविव्वा'—रसों का अधिक सेवन मत करो। महाभारत पढ़ा। उसका स्वर है—योगी का बल है नीरस भोजन, अरस भोजन। महात्मा गांधी को पढ़ा। वे बार-बार दोहराते हैं अस्वाद, अस्वाद। मैंने सोचा—मनोनुशासनम् नया ग्रन्थ है, यह आज के युग का ग्रन्थ है। इसमें सरस भोजन का आशावादी स्वर मिलेगा, रसमय जीवन जीने के उपाय मिलेंगे। उसे मनोयोगपूर्वक पढ़ा। उसमें भी यही स्वर मिला कि इन्द्रियों के रस को कम करो, इन्द्रिय-शुद्धि करो। आहार की शुद्धि के पश्चात् इन्द्रिय शुद्धि करो। इन्द्रिय-जय की चर्चा करते-करते अध्यात्म के सारे ग्रंथ रसहीन बन गए हैं। इस रसहीनता को देखकर अध्यात्म से ऊब गया हूँ। मैं उलझन मिटाने के लिए आया था, पर नई उलझनों में फँस गया। मुझे वह जीवन चाहिए जिसमें सरसता टपके। वह जीवन चाहिए जिसमें रस हो, आनन्द हो, स्वाद हो। आज के युवक के लिए अस्वाद की बात अर्थहीन है। इस वैज्ञानिक प्रगति के युग में त्यागने या छोड़ने की बात मान्य नहीं हो सकती। मत देखो। मत सुनो। मत खाओ। मत पीओ। मत बोलो। मत छुओ। सुगन्ध भी मत लो। मत करो, मत करो—इस निषेध ने जीवन का सारा रस चूस लिया, उसे रसहीन बना डाला। सारा जीवन ईख के छिलके की भांति रसहीन हो गया। अध्यात्म के आचार्यों ने जो कहा, जो बताया, उससे मुझे बड़ी निराशा हुई है। फिर आप पूछते हैं—चेहरे पर शिकन क्यों? उलझन की रेखा क्यों? शिकन क्यों नहीं होगी? उलझने क्यों नहीं उभरेंगी? अध्यात्म में प्रवेश कर मझे बहत कष्ट हुआ। मेरी सारी आशाएं धमिल हो गईं।

आशाओं पर तुषारापात-सा हो गया। अब क्या कहूँ? मेरा मार्गदर्शन करें।

मैंने कहा—भले आदमी! इतने क्यों उलझते हो? अध्यात्म को छोड़ दो, तिलांजली दे दो। जैसे सांप केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही तुम अध्यात्म को सदा-सदा के लिए छोड़ दो।

उसने कहा—यह सम्भव हो सकता है? मैं इसे छोड़ नहीं सकता। मैं पदार्थों के सेवन से ऊब कर इस क्षेत्र में आया। यदि इसको भी छोड़ दूँ तो फिर 'णो हव्वाए णो पाराए'—न इधर का रहा न उधर का रहा। पदार्थों से भी मुझे अरुचि है। पदार्थों ने मुझे प्रताड़ित कर रखा है। उनसे मानसिक अशांति ही मिली है। उस अशांति से तर्जित होकर शान्ति की खोज के लिए इस क्षेत्र में पदार्पण किया। यहां भी शांति नहीं मिली। फिर पदार्थ जगत् में जाकर क्या करूँ? वहां भी अशांति ही अशांति है। अब अध्यात्म को कैसे छोड़ूँ? छोड़कर कहां जाऊँ?

मैंने कहा—तुम अभी समझे नहीं। तुमने अध्यात्म को भी पूरा नहीं समझा है। तुमने न उत्तराध्ययन को समझा है, न महाभारत को समझा है और न मनोनुशासनम् को समझा है। समझना बहुत कठिन होता है। जब तक अनुभव नहीं होता, परम्परा नहीं होती, बात समझ में नहीं आती। शिविर में ध्यान-साधना करने वाला एक साधक बता रहा था कि वह दो वर्षों से ध्यान का अभ्यास कर रहा है, पर उससे कुछ भी हस्तगत नहीं हुआ। शिविर में दस दिनों के क्रम से गुजरा और अनुभव होने लगा कि कुछ हो रहा है। इसका निष्कर्ष है कि बात अपने आप समझ में नहीं आती। जब तक चाबी हाथ नहीं लगती, ताला नहीं खुलता। मैंने आयुर्वेद का एक ग्रंथ पढ़ा। उसमें पानी को ठण्डा करने की कुछ विधियां बतलाई गई हैं। उनमें एक विधि है—वस्त्रोद्धरण। वस्त्र के द्वारा पानी को ठंडा किया जा सकता है। पानी को वस्त्र से छानने से पानी ठण्डा होता है। मैंने पढ़ा तो बहुत आश्चर्य हुआ कि अनुवादक ने कितना गलत अनुवाद किया है। अनुवाद गलत इसलिए हुआ कि अनुवादक को इस विधि का अनुभव नहीं था। हम मुनि इस विधि से बहुत परीचित हैं। जब ग्रीष्म ऋतु में यत्र-तत्र हमें गरम पानी प्राप्त होता है तब इस विधि से हम उसे ठंडा करते हैं। ठंडा भी इतना हो जाता है कि मानो बर्फ का पानी हो। दस-बीस बार छानने मात्र से गरम-पानी ठंडा नहीं होता। वस्त्रोद्धरण की विधि यह है। गरम पानी का पात्र पड़ा है। पानी में कपड़ा डाला। उसको द्विपट या चतुःपट वाला किया। उसके दोनों सिरे पकड़कर ऊपर उठाया, फिर पानी में डाला, फिर ऊपर उठाया। इस प्रकार करते-करते पानी ठण्डा हो जाता है। पानी कपड़े के साथ ऊपर उठता है। हवा लगती है। पानी ठंडा हो जाता है। इसी प्रकार गरम पानी का पात्र ऊपर रख दिया। उसमें एक कपड़ा डालकर, कपड़े को नीचे लटका

दिया। नीचे एक खाली पात्र रख लिया। धीरे-धीरे उस कपड़े के माध्यम से बून्द-बून्द कर पानी नीचे के पात्र में आता रहेगा। कपड़े को हवा लगेगी। और ऊपर से नीचे आते-आते पानी ठंडा हो जाएगा। यह है-वस्त्रोद्धरण विधि।

कहने वाला कितना ही ज्ञानी हो, सर्वज्ञ हो, पर सारा दायित्व होता है समझने वाले पर कि वह सर्वज्ञ द्वारा कथित तथ्यों को कितनी गहराई से समझ पाया है।

बहुत सारे लोग कहते हैं-गीता भगवान कृष्ण की वाणी है, हम उसे समझते हैं। धम्मपद भगवान बुद्ध की वाणी है, हम उसे समझते हैं। उत्तराध्ययन भगवान महावीर की वाणी है, हम उसे समझते हैं। भगवान कृष्ण हो, भगवान बुद्ध हो, भगवान महावीर हो कोई भी हो। उनसे हमें कोई मतलब नहीं है। हमें देखना है कि उन वचनों को समझने वाले कितनी गहराई से उन वचनों को समझते हैं। आज वे शब्द पूरे समझ में नहीं आते तो भला उसके नीचे छिपा सूक्ष्म अर्थ कैसे समझ में आ सकता है? न जाने कितने गलत अर्थ किए जा रहे हैं! अध्यात्म के क्षेत्र में भी यह त्रुटि चल रही है। इसलिए कहने वाले कहते हैं, अध्यात्म नीरसता पैदा करता है।

अध्यात्म जीवन को नीरस नहीं बनाता। अध्यात्म ही एक ऐसी प्रक्रिया है जो जीवन को अनन्त रसायन बनाने में समर्थ है। अध्यात्म के सिवाय कोई प्रक्रिया ऐसी नहीं है जो जीवन को अनन्त रसायन बना सके। पदार्थ के सारे रस, एक समय मात्र के लिए रस होते हैं, समय बीतने के बाद वे रसहीन हो जाते हैं। गर्मी का मौसम। चटपट भोजन मिला, आदमी ने उसे स्वाद से खाया। कुछ ही समय पश्चात् प्यास लगी। पानी का पहला ग्लास पिया। लगा कि पानी से बढ़कर अमृत क्या हो सकता है! पानी का दूसरा ग्लास पिया। प्यास कम हो गई। पानी का मूल्य कम हो गया। पानी का तीसरा ग्लास पिया। प्यास बुझ गई। पानी का चौथा ग्लास पिया तब लगा कि पानी तो निकम्मी वस्तु है। उससे पेट क्यों भरा जाए? अब पानी का ग्लास सामने आता है तो लगता है क्यों ले आया पानी? प्यास के समय पहले ग्लास के पानी में जो रस था, वह अन्त तक नहीं रहा। जैसे-जैसे प्यास बुझती है, पानी नीरस लगने लगता है। प्रत्येक पदार्थ की यही प्रकृति है। पहले उसमें बहुत रस लगता है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसका रस चुकता जाता है। केवल भोजन, पानी का ही प्रश्न नहीं है, कपड़े आदि सभी पदार्थों की यही प्रकृति है। यदि हम उस प्रकृति का आसूत्र विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि पहली बार पदार्थ जो आनन्द देता है, फिर वह आनन्द नहीं मिलता, कभी नहीं मिलता। फिर चाहे वह विवाह हो, किसी का योग हो या किसी का सम्बन्ध हो। दो मित्रों को तोड़ने या

अलग करने का सबसे सीधा उपाय है कि दोनों को साथ में रख दो। वे जितने पास रहेंगे दूर होते जायेंगे। वे जितने दूर रहेंगे, प्रेम बना रहेगा। सदा साथ में रहने वाले पति-पत्नी का प्रेम भी टूट जाता है। साथ में रहने वाले पारिवारिक जनों का प्रेम भी टूट जाता है। न जाने वह कितनी बार टूटता है और कितनी बार सधता है! मित्र का सम्बन्ध, प्रियता—ये सब दूरी की अपेक्षा रखते हैं। एक निश्चित दूरी रहती है तो ये निभते हैं, चलते हैं, अन्यथा नहीं। निकटता आते ही परस्पर टकराहट होने लग जाती है। मित्रता टूटने लग जाती है।

क्या पदार्थ जीवन को रसमय बनाता है? नहीं। वह एक बार रसमयता का आभास हमें कराता है। किन्तु समय के साथ-साथ रसमयता समाप्त होती जाती है। पदार्थ के सेवन से आदमी में इतनी ऊब जाग जाती है कि पदार्थ का मूल्य कम हो जाता है।

एक संन्यासी था। वह बहुत प्रसिद्ध था। राजा के कानों तक उसकी यशोगाथा पहुंची। उसने संन्यासी को राजमहल में आमन्त्रित किया। संन्यासी गया। एक लकड़ी के आसान पर बैठ गया। बातचीत के समय संन्यासी ने राजा से कहा—“महाराज! जीवन का सबसे बड़ा मूल्य है अध्यात्म।” राजा को यह सुनकर आश्चर्य-सा हुआ। वह पूर्ण नास्तिक था। उसने कहा—अध्यात्म मूल्यवान कैसे हो सकता है? वह स्वयं अमूर्त है। जिसका कोई रूप नहीं, आकार नहीं, जो कुछ भी पदार्थ नहीं, फिर वह मूल्यवान कैसे हो सकता है? संन्यासी समझ गया। उसने कहा—राजन! यदि अध्यात्म मूल्यवान नहीं है तो क्या तुम्हारा राज्य मूल्यवान है! राजा ने अहं की हंसी हंसते हुए कहा—महाराज! आप ठीक कहते हैं। राज्य बहुत मूल्यवान है। आप देखें, मेरा ऐश्वर्य, मेरी सम्पदा, मेरा खजाना कितना मूल्यवान है! सारे लोग उसको पाने के लिए ललचाते हैं, तरसते हैं। लोग चाहते हैं राजा बनना ही श्रेयस्कर है। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं मिलेगा, जिसके मन में राजा बनने की तमन्ना न हो। मूल्य है तभी तो सब लोग तरसते हैं।

संन्यासी बोला—तुम्हारे राज्य का मूल्य है दो गिलास पानी। इस स्थिति में वह मूल्यवान कैसे हो सकता है?

“महाराज! आप अपनी बात को समझाएं।”

“राजन ! कल्पना करें कि आप एक दिन शिकार करने के लिए जंगल में गए। मार्ग भूल गए। भटक गए। दिन का समय। चिलचिलाती धूप। भरपेट भोजन किया हुआ। चटपटा भोजन। प्यास लग गई। भंयकर प्यास। यदि कुछ समय तक पानी न मिले तो प्राणों से हाथ धोना पड़े। जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो गया। उस समय यदि भाग्यवश कोई व्यक्ति एक गिलास पानी लाकर

दे, तो राजन! आप उसे क्या देंगे?"

"महाराज उस समय मैं उस व्यक्ति को आधा राज्य दे दूंगा।"

"अच्छा राजन! आपने पानी पीया। संयोग ऐसा बना कि अत्यधिक उष्मा के कारण आपके मूत्र-निरोध हो गया। भयंकर वेदना होने लगे। आप छटपटाने लगे। प्राण निकलने की नौबत आ गई। उस स्थिति में कोई कुशल वैद्य, एक गिलास पानी में औषधि मिलाकर दे, तो आप उसे क्या देंगे?"

"महाराज! प्राण बचाने वाले वैद्य को मैं अपना आधा राज्य दे दूंगा। प्राणों के सामने राज्य का मूल्य ही क्या है?"

"राजन ! अब समझ गए। आपके राज्य की कीमत है दो गिलास पानी। उसे आप बहुत कीमती कैसे बता रहे हैं? आधा राज्य तो एक गिलास पानी पीने में चला जाता है और शेष आधा राज्य एक गिलास पानी निकालने में चला जाता है, तो समूचे राज्य का मूल्य दो गिलास पानी से अधिक नहीं होता।"

प्रत्येक पदार्थ के मूल्य की यही स्थिति है। यथार्थ में पदार्थ का मूल्य बहुत कम होता है। अपेक्षा के आधार पर ही उसकी मूल्य वृद्धि होती है।

जिस दिन सचाई की आंख खुल जाएगी, ऐसा लगेगा कि हमने इतनी बड़ी मूर्खता की है कि देव पुरुषों को मूल्यहीन मानते रहे हैं और मूर्खों को मूल्य देते रहे—अध्यात्म को मूल्यहीन समझते रहे और पदार्थ को मूल्यवान मानते रहे।

अध्यात्म की यात्रा मूल्य-प्रस्थापना से प्रारम्भ होती है, मूल्य के विवेक से प्रारम्भ होती है। जब सम्यग्दृष्टि जागती है तब मूल्यों का विवेक जागता है कि किसको कितना मूल्य देना चाहिए। आचार्य वह होता है जो इस बात का निर्णय कर सकता है कि किसको कितना मूल्य देना चाहिए। जिसमें यह विवेक नहीं होता, वह आचार्य नहीं हो सकता, यदि कोई आचार्य बन जाता है तो वह आचार्यत्व को निभा नहीं सकता।

सबसे बड़ी बात है मूल्यों का विवेक। अध्यात्म से सम्यग्दृष्टि जागती है तब व्यक्ति जिसका जितना मूल्य होता है, उसको उतना मूल्य देता है। आहार-शुद्धि और इन्द्रिय-शुद्धि का सिद्धान्त मूल्यों का सिद्धान्त है। किस आहार को कितना मूल्य दिया जाए, किस इन्द्रिय को कितना मूल्य दिया जाए, यह विवेक-जागरण पर निर्भर करता है। अध्यात्म के आचार्यों ने आहार को भी मूल्य दिया है और इन्द्रियों को भी मूल्य दिया है, किन्तु उतना ही मूल्य दिया है जितना उसका मूल्य है, अधिक मूल्य नहीं दिया। इन्द्रिय-शुद्धि का यह अर्थ नहीं कि आंखों को फोड़ दो—चक्षु इन्द्रिय की शुद्धि हो जाएगी। कानों के पर्दों को फाड़ दो, श्रोत्र-इन्द्रिय की शुद्धि हो जाएगी या चमड़ी को उखाड़ दो, स्पर्श-इन्द्रिय की शुद्धि हो जाएगी।

इन्द्रिय-शुद्धि का अर्थ है कि जिस इन्द्रिय का जितना मूल्य हो, उसको उतना ही मूल्य देना, न कम और न अधिक। आज समाज में उनको अतिरिक्त मूल्य देने की प्रवृत्ति बढ़ी है। इसको मिटाना चाहिए। व्यक्ति-व्यक्ति को यह बात समझनी चाहिए कि इन्द्रियों का जितना मूल्य माना जा रहा है, उतना उसका मूल्य नहीं है। यह बात चाहे प्रत्येक व्यक्ति के समझ में न आए, किन्तु जब मनुष्य इन्द्रियों को अतिरिक्त मूल्य देने के कारण प्रताड़ित होता है, तब यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ जाती है। प्रत्येक बात प्रताड़ना के बाद ही समझ में आती है, पहले नहीं।

अमेरिका के एक प्रसिद्ध उद्योगपति से किसी ने पूछा—आपकी सफलता का रहस्य क्या है? उसने कहा—सही समय में सही निर्णय लेने की क्षमता ने ही मुझे सफलता के शिखर पर चढ़ाया है। सही निर्णय का आधार है—अनुभव। अनुभव का आधार है—गलत निर्णय। मैंने अनेक बार गलत निर्णय लिए। उन गलत निर्णयों से हानि उठाई तब अनुभव के आधार पर ही सही निर्णय लेने की क्षमता जागी और सही निर्णय के आधार पर सफलता मिलती गई।

गलती के बिना कोई आदमी कैसे सीख सकता है।

एक बार बादशाह ने बीरबल से पूछा—तुम्हें इतनी बुद्धि कहां से मिली? बीरबल बोला—मूर्खों से। मैंने देखा कि जिन कामों के आधार पर व्यक्ति मूर्ख होता है, मैंने वे काम छोड़ दिए। मैं बुद्धिमान होता गया। दुनिया में मूर्खों और पागलों की कमी नहीं है।

एक वकील ने मरते समय अपनी वसीयत लिखी। उसमें लिखा कि मेरी सारी संपत्ति मूर्खों और पागलों में बांट दी जाए। क्योंकि मैंने यह सारी संपत्ति मूर्खों और पागलों से ही बटोरी है।

प्रताड़नाओं, गलतियों और मूर्खताओं के बिना कोई भी आदमी सही निर्णय पर नहीं पहुंचता। मनुष्य समाज ने भी बहुत गलतियां कीं। उसने इन्द्रियों को बहुत मूल्य दिया। उसके दुःखद परिणाम सामने आए। उसे तब यह भान हुआ कि इन्द्रियों को अतिरिक्त मूल्य देना खतरे से खाली नहीं है। जीवन में बहुत हानि होती है, बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ती हैं। इससे उसे बोध-पाठ लेते-लेते इन्द्रिय-शुद्धि की बात सूझी। उसने सोचा—इन्द्रिय-शुद्धि की जाए। इन्द्रियों को अतिरिक्त मूल्य न दिया जाए। उन पर विजय प्राप्त की जाए।

सही समय पर सही निर्णय अध्यात्म के आचार्यों ने किया और उन्होंने समाज के सामने इन्द्रिय-शुद्धि और इन्द्रिय-विजय की बात प्रस्तुत की। प्रश्न होता है कि क्या ऐसा करना संभव है या हम असंभव को संभव बनाने का निरर्थक प्रयत्न कर रहे हैं? यह असंभव चर्चा नहीं है। यदि हम नियमों को जान लें तो

इन्द्रिय-शुद्धि हो सकती है, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है।

हमारी दुनिया में बहुत सारे नियम हैं। पदार्थ का अपना नियम है और अध्यात्म का अपना नियम है। प्रत्येक विज्ञान का अपना नियम होता है। पदार्थ की सूक्ष्म प्रकृति और संरचना के नियमों का हमें पता चल जाए तो कोई बात असंभव नहीं रहती और यदि नियमों का पता न चले तो प्रत्येक बात असंभव ही होती है।

मैं यहां बोल रहा हूँ। ऊपर बैठे सैकड़ों लोग सुन रहे हैं। न-मैं उन्हें देख पा रहा हूँ और न वे मुझे देख पा रहे हैं। फिर भी सुनने में कोई बाधा नहीं है। सौ वर्ष पहले यह असंभव लगता था, आज यह संभव हो गया है। आज इतना संभव हो गया कि दुनिया के किसी कोने से कोई बोलता है और विश्व के सारे लोग सुन लेते हैं। सूक्ष्म नियम का पता चला और यह असंभव बात भी संभव हो गई।

अध्यात्म सूक्ष्म नियमों की खोज है। अध्यात्म केवल धर्म का ही विज्ञान नहीं है। वह प्रकृति का सूक्ष्मतम गुणधर्मों को सुलझाने वाला विज्ञान है। उसके द्वारा प्रकृति का सूक्ष्मतम अध्ययन होता है, विमर्श होता है और सूक्ष्म नियमों का पता लगाया जाता है।

प्रारम्भ में युवक ने प्रश्न उपस्थित किया था कि अध्यात्म अरस की ओर ले जाता है। यह ठीक है, क्योंकि अध्यात्म में प्रवेश करते ही आपको रसों को छोड़ने की बात कही जाती है। उसमें सबसे ज्यादा बल जीभ को वश में करने के लिए दिया जाता है, इन्द्रिय-विजय की बात कही जाती है। यह क्यों? बहुत गहरा नियम खोजा गया कि मनुष्यों को सबसे अधिक भटकाने वाली बात है—कामुकता। सेक्स भटकाता है। फ्रायड ने ठीक कहा था कि सेक्स मनुष्य की मूल मनोवृत्ति है। वह समूचे जीवन पर हावी रहती है। आज के शरीरशास्त्रियों और मानसशास्त्रियों ने कहा है कि और सब तनाव सामयिक होते हैं किन्तु सेक्स का तनाव निरन्तर बना रहता है। कामुकता बहुत बड़ा खतरा है। उस खतरे को मिटाने के लिए अध्यात्म ने पहली बात कही कि जब तक कामुकता को कम नहीं किया जाएगा तब तक मानसिक अशांति का प्रश्न कभी समाहित नहीं होगा। कामुकता कम करने के लिए जीभ का संयम अनिवार्य है। आश्चर्य होता है कि जीभ और कामुकता का क्या संबंध? जब तक हम नियम को नहीं जानते तब तक हमें सम्बन्ध का पता नहीं चलता। जब सूक्ष्म नियम ज्ञात हो जाता है तब सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक पद्य है—

“रसा पगामं न निसेवियव्वा, पायं रसा दित्तिकरा नराणं।

दित्तं च कामा समभिद्वन्ति, दुमं जहा साउफलं व पक्खी।।”

रसों का अधिक सेवन मत करो। रसों के अधिक सेवन से उन्माद बढ़ता है। जब उन्माद बढ़ता है तब कामुकता बढ़ती है। कामुक व्यक्ति पर काम-वासना वैसे ही आक्रमण कर देती है जैसे स्वादिष्ट फल वाले वृक्ष पर पक्षी आक्रमण करते हैं।

यह कथन किसी अज्ञानी का नहीं है। यह कथन उन व्यक्तियों का है जो इस सूक्ष्म नियम को जानते थे कि जीभ का और जननेन्द्रिय का निकट का संबंध है, गहरा संबंध है। इस संबंध की व्याख्या मैं तंत्रशास्त्र के द्वारा करना चाहता हूँ। तंत्रशास्त्र में पांच तत्त्वों की मीमांसा है—पृथ्वी तत्त्व, जल तत्त्व, अग्नि तत्त्व, वायु तत्त्व और आकाश तत्त्व। इन पांचों तत्त्वों की पांच ज्ञानेन्द्रिय हैं और पांच कर्मेन्द्रिय हैं।

	पांच तत्त्व	पांच ज्ञानेन्द्रियां	पांच कर्मेन्द्रिय
१.	पृथ्वी तत्त्व	घ्राण	अपान
२.	जल तत्त्व	जिह्वा	जननेन्द्रिय
३.	अग्नि तत्त्व	चक्षु	पैर
४.	वायु तत्त्व	स्पर्शन	हाथ
५.	आकाश तत्त्व	श्रोत्र	वाक्

जल तत्त्व में सारे रस समाविष्ट हो जाते हैं। जल तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है जिह्वा और कर्मेन्द्रिय है जननेन्द्रिय। इस प्रकार जननेन्द्रिय और जिह्वा—दोनों जल तत्त्व से संबद्ध हैं। दोनों का गहरा संबंध है। जब जिह्वा को रस अधिक मिलेंगे तब कामुकता बढ़ेगी। जल तत्त्व दोनों को पुष्ट करता है, सिंचन देता है।

अग्नि तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है चक्षु और कर्मेन्द्रिय है पैर।

क्रोध का पहला लक्षण है आंखों का लाल हो जाना। अग्नि तत्त्व के बढ़ते ही क्रोध उभरता है और आंखें लाल हो जाती हैं, भृकृटि तन जाती है। क्रोध आए और आंखें लाल न हों, ऐसा नहीं होता। लाली इतनी बढ़ती है कि वह बाहर तक आ जाती है।

रामायण का एक प्रसंग है। राम ने सीता से पूछा—तुम जिस वाटिका में थी, उसके फूल कैसे थे? सीता ने कहा—सफेद। हनुमान से भी वह प्रश्न पूछा। उसने कहा—लाल। दोनों थे प्रत्यक्षदर्शी। दोनों के उत्तर एक दूसरे से विपरीत। किसको झुठलाया जाए, किसको सही माना जाए? सीता ने कहा—जो मैं कहती हूँ वह शत-प्रतिशत सही है। सारे फूल सफेद थे। हनुमान बोला—मैं जो कहता हूँ, वह प्रत्यक्ष दर्शन की बात है। सारे फूल लाल थे। दोनों में विवाद बढ़ा। राम ने विवाद को समेटते हुए कहा—दोनों सही हो। कैसे? उस समय सीता शान्त थी वह शांत रस

में स्नात थीं। किसी के प्रति उसके मन में रोष नहीं था। उसकी आंखों से अमृत झर रहा था। उसको सब कुछ सफेद ही सफेद दिख रहा था। उसके लिए सारे फूल सफेद थे। हनुमान जब लंका में गया, उस वाटिका में पहुंचा, तब उसका क्रोध सीमा का अतिक्रमण कर चुका था। वह क्रोध से लाल-पीला हो रहा था। आंखों से अग्नि वरस रही थी। उस समय उसे सब कुछ लाल ही लाल दिख रहा था।

सीता और हनुमान दोनों का उत्तर सही था। वाटिका के फूल सफेद और लाल दिख रहे थे। जब क्रोध आता है तब आंखों से खून बरसने लग जाता है। केवल आंख ही लाल नहीं होती, फूल भी लाल हो जाते हैं।

सही बात यह है कि पदार्थों के रसों का संयम किए बिना कामुकता को कम नहीं किया जा सकता। रस और कामुकता परस्पर संबद्ध हैं। दोनों जल तत्त्व के द्वारा जुड़े हुए हैं। जीभ को सिंचन मिलने का तात्पर्य है जननेन्द्रिय को सिंचन मिलना। यह कभी नहीं हो सकता कि मनुष्य जिह्वा का पोषण करता रहे, पूरा स्वाद लेता रहे, जीभ के स्वादांकुरों को तृप्त करता रहे और जननेन्द्रिय को वश में करने की बात भी सोचता जाए। वह अपने प्रयत्न में कभी सफलता नहीं पा सकता। अपवाद की बात को हम छोड़ दें। वह सामान्य नियम नहीं हो सकता।

अध्यात्म ने इन सूक्ष्म नियमों की खोज की। मैंने केवल एक नियम का कथन मात्र किया है। यदि हम सारे नियमों को जानने का प्रयत्न करें तो ज्ञात होगा कि अध्यात्म के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित ये सूक्ष्म नियम भावावेश में कहे गए नियम नहीं हैं, उनका वैज्ञानिक आधार भी सुस्पष्ट है। ये सारी सचाइयां हैं।

मनोनुशासनम् में आहार-शुद्धि के बाद इन्द्रिय-शुद्धि की बात कही गई है। इस ग्रन्थ में उसके दो उपाय निर्दिष्ट हैं—

१. स्वविषयान् प्रति सम्यग् योगः ।

२. प्रतिसंलीनता च ।

इन्द्रिय-शुद्धि के दो उपाय हैं—(१) अपने-अपने विषयों के प्रति सम्यग् योग होना चाहिए। (२) प्रतिसंलीनता होनी चाहिए। ये दोनों उपाय दो बड़े नियमों पर आधारित हैं। पांच इन्द्रियों के पांच विषय हैं। आंख का विषय है रूप, कान का विषय है स्वर, घ्राण का विषय है गंध, जीभ का विषय है रस और त्वचा का विषय है स्पर्श। ये पांच इन्द्रियां हैं और ये पांच इनके विषय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने-अपने विषय के साथ सम्यग् योग होना चाहिए। अध्यात्म का व्यक्ति भी इन्द्रिय-विषयों का सेवन करता है। वह देखता है, सुनता है, चखता है, स्पर्श करता है, किन्तु वह इन इन्द्रियों तथा उनके विषयों को भली प्रकार से जानता है।

प्रश्न होता है कि नियम क्या है? चेतना का नियम है जानना और

देखना। यही चेतना का स्वभाव है। केवल ज्ञाताभाव और केवल द्रष्टाभाव। चेतना की वह मूल प्रकृति है। अध्यात्म का व्यक्ति इस नियम के आधार पर चलेगा कि चेतना का व्यापार केवल इतना ही है। प्रियता और अप्रियता उसका काम नहीं है। प्रियता और अप्रियता—ये दो गंदी नालियां बाहर से आकर इनमें मिलती हैं। हमारी चेतना की शुद्ध धारा बहती है। उसके साथ कषाय की धारा मिल जाती है तब वह विशुद्ध नहीं रहती। तब इन्द्रिय का विषय केवल विषय नहीं रहता, वह विकार बन जाता है। जब विषय विकार बन जाता है तब रूप हमारे लिए केवल रूप नहीं रहता। वह प्रिय या अप्रिय बन जाता है। तब रस हमारे लिए केवल रस नहीं रहेगा। वह या तो स्वादिष्ट होगा या अस्वादिष्ट होगा। हमारी सारी दृष्टि चेतना की दृष्टि या ज्ञेय की दृष्टि न रहकर प्रियता या अप्रियता की दृष्टि बन जाती है। इस दृष्टि का फलित यह होता है कि व्यक्ति या तो किसी से प्रेम करने लगता है या किसी से घृणा करने लग जाता है। वह किसी को प्रिय और किसी को अप्रिय मानने लग जाता है। प्रियता इसलिए चलती है कि अप्रियता का अस्तित्व भी बराबर बना हुआ है। प्रेम इसलिए चलता है कि घृणा भी साथ-साथ चलती है। केवल प्रियता नहीं चल सकती। केवल अप्रियता नहीं चल सकती। केवल प्रेम नहीं चल सकता। केवल घृणा नहीं चल सकती। दोनों साथ-साथ चलते हैं। या तो दोनों रहेंगे या दोनों नहीं रहेंगे। एक कभी नहीं रह सकता। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो केवल प्रेम ही करता हो। ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो केवल घृणा ही करता है। जो प्रेम करता है वह घृणा भी करता है। जो घृणा करता है वह प्रेम भी करता है।

विषयों के प्रति सम्यग् योग का अर्थ है कि व्यक्ति ज्ञेय को ज्ञाता की दृष्टि से जाने। प्रियता या अप्रियता के भाव को निकाल दे। यह इन्द्रिय-शुद्धि का पहला उपाय है। इससे चेतना स्वच्छ रहेगी। गंदी नालियां उसमें नहीं मिलेंगी। वे दूर हो जायेंगी।

विषयों के प्रति सम्यग् योग का अर्थ है कि व्यक्ति ज्ञेय को ज्ञाता की दृष्टि से जाने। प्रियता या अप्रियता के भाव को निकाल दे। यह इन्द्रिय-शुद्धि का पहला उपाय है। इससे चेतना स्वच्छ रहेगी। गंदी नालियां उसमें नहीं मिलेंगी। वे दूर हो जायेंगी।

दूसरा उपाय है—प्रतिसंलीनता। व्यक्ति का अभ्यास है कि वह बाहर की ओर ज्यादा देखता है। व्यक्ति की सारी लीनता पदार्थ के प्रति है, बाहर की ओर है। बाहर के प्रति उसकी लीनता चरम सीमा तक पहुंच जाती है। वह जिधर देखने लग जाता है उधर ही देखता रहता है। यह बच्चे की प्रवृत्ति है कि वह एकटक लम्बे समय तक एक बिन्दु पर देखता ही रह जाता है।

मेरी अपनी घटना है। मैं छोटा बच्चा था। दस वर्ष का भी नहीं था। मैं अपने परिवार वालों के साथ कलकत्ता गया। जन्मा था टमकोर में। बहुत छोटा-सा गांव। कलकत्ते जैसे बड़े शहर को देखकर आश्चर्यचकित रह गया। परिवार वालों के साथ बाजार में गया। एक दुकान पर माल खरीदने के लिए वे रुके। मैं दुकान में पड़े विविध पदार्थों को देखता रहा। इतनी चीजें! इतनी बड़ी दुकान!! कहां है टमकोर में? मैं एकटक देखता रहा। परिवार वालों ने माल खरीदा और चलते बने। मैं देखता ही रह गया। ध्यान टूटा तो देखा कि परिवार वाला कोई सदस्य नहीं है। मैं बिछुड़ गया। कोई नियति का योग था, आचार्य तुलसी के चरणों में आना था, भटकते-भटकते घर आ गया। मेरे जैसा अबोध बच्चा, जो भटक गया था, सुरक्षित घर आ गया, यह भी एक दैवी घटना ही थी।

एकटक देखना या भान भूल जाना—यह बच्चे में ही नहीं होता, बड़े-बड़े व्यक्ति भी इसके जाल में फंसे रहते हैं। जब कोई प्रिय रूप, स्वर या गंध सामने आता है तब वे व्यक्ति भान भूल जाते हैं और अपने बोध को भी खो देते हैं। यह प्रकृति उनको चेतना के द्वारा सही स्वभाव का अनुभव नहीं होने देती।

प्रियता और अप्रियता की बात छूटती है जब लीनता का क्षेत्र बदल जाता है। यह रसहीनता नहीं, किन्तु जो व्यक्ति अपने भीतर महान रस को खोज लेता है, उसकी सारी लीनता बदल जाती है, आकर्षण बदल जाता है।

प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला विचित्र प्रकार के आनन्द का अनुभव करता है। जब वह श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा और प्रकंपन-प्रेक्षा में लीन होता है तब बाहर की लीनता अपने आप छूट जाती है। उसका कालबोध बदल जाता है, दिशा बोध बदल जाता है। एक घंटा प्रेक्षा करते हैं और अनुभव होता है कि मानो दस मिनट बीते हों। यह इसलिए होता है कि लीनता बदल जाती है। भीतर का रस जब जागता है तब सारी स्थितियां बदल जाती हैं। अध्यात्म रसहीन बनाने की प्रक्रिया नहीं, किन्तु अपने भीतर छिपे हुए महान रसों को उद्घाटित करने की प्रक्रिया है। जिसने अपने भीतर के रस की महान तरंगों का स्पर्श नहीं किया, वही व्यक्ति बाहर के पदार्थों को रसमय और भीतर के रसों को नीरस मानता रहेगा। किन्तु जिस दिन वह इस समुद्र की तरंगों का एक बार भी स्पर्श कर लेगा, उसके रस की सारी धारणा बदल जाएगी और तब भीतर का रस-स्रोत फूट पड़ेगा।

दन्दिद्य ञ्जद्वि के दो र्पाय पतिपादित किए गए हैं—

१. विषयों के प्रति सम्यग् योग ।

२. लीनता को बदलना । रस की धारणा को बदलना और उसका अनुभव करना ।

जो व्यक्ति ऐसा कर लेता है उसके लिए इन्द्रिय-शुद्धि सहज हो जाती है । उसके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं रहती । वह अपने आप होने वाली जीवन की महान घटना बन जाती है ।

श्वास पर अनुशासन

एक शिविरार्थी भाई ने कहा—प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग प्रारम्भ हुआ, एक घोष सुना—आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें। मन बहुत प्रसन्न हुआ कि हम आत्मा को देख पायेंगे। चिर-स्वप्न साकार होगा। मनुष्य में आत्मा को देखने की प्रबल लालसा होती है। प्रत्येक व्यक्ति आत्मा को देखना चाहता है, परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है। वह उन्हें खुली आंखों से देखना चाहता है, सामने खड़े हों, वैसे देखना चाहता है। मुझे अच्छा लगा कि बस, अब आत्मा का साक्षात्कार हो जाएगा। किन्तु प्रयोग के प्रारम्भ में ही कहा गया—श्वास को देखें। मुझे बड़ी निराशा हुई। आया था आत्म-साक्षात्कार करने और कराया जा रहा है श्वास-दर्शन। स्वप्न मीठा था, पर वह बीच में ही टूट गया। कहां आत्म-साक्षात्कार और कहां श्वास-दर्शन ! प्रश्न हुआ, क्या शिविर में श्वास को ही देख पायेंगे? यदि यही शिविर की फलश्रुति है तो यहां आने की जरूरत ही क्या है। श्वास बेचारा रोज चलता है। घर पर चलता है, दुकान में चलता है। सोते, उठते, बैठते यह चलता ही रहता है। उसे हम कहीं भी देख लेते। इतना आयास उठा कर यहां आने की आवश्यकता ही क्या थी? फिर हमें बताया क्यों गया कि आत्मा के द्वारा आत्मा को देखें?

तर्क आखिर तर्क होता है। प्रत्येक तर्क का प्रतितर्क होता है। कमजोर तर्क को बलवान तर्क काट देता है। तर्क कितना ही बलवान हो उसको काटने के लिए दूसरा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है। दुनिया में ऐसा एक भी तर्क नहीं है, जिसका प्रतितर्क न हो, विरोधी तर्क न हो। एक बार सुनते हैं तो लगता है कि तर्क अकाट्य है। जो अकाट्य होता है वह तर्क हो नहीं सकता। अनुभव मात्र अकाट्य होता है। तर्क कभी अकाट्य नहीं होता। तर्क है बुद्धि का खेल। जो बुद्धि से संबंधित है वह अकाट्य नहीं हो सकता। अनुभव का संबंध चेतना से है। उसके साथ शाश्वत सत्य का पक्ष होता है। तर्क के साथ शाश्वत सत्य का पक्ष नहीं होता।

मैं तर्क में नहीं उलझा और इसीलिए नहीं उलझा कि कल ही मैंने मेरे आचार्य से सुना था—तर्क में सचाई नहीं मिलती। तर्क सत्य तक नहीं पहुंचाता। मैं उलझा नहीं। मैंने शिविरार्थी की बात सुनी। दो क्षण मौन रहा। फिर मैंने कहा—भाई! तुम्हारी बात को काटना नहीं चाहता। तर्क के प्रति तर्क प्रस्तुत करना नहीं चाहता। एक कहानी सुनाना चाहता हूं और इसलिए कि तर्क नीरस होता है, कहानी सरस होती है। जब हम सरसता की बातें कर रहे हैं तो फिर नीरसता को बीच में क्यों लायें? तम्हारे मन में यह प्रश्न इसलिए उठा कि तम नियम को नहीं

जानते। यदि नियम ज्ञात होता तो यह प्रश्न समस्या नहीं बनता। जब तक हम नियम को नहीं जानते तब तक हर बात समस्या बन जाती है।

एक आदमी दौड़ा जा रहा था। पीछे-पीछे कुत्ता भी दौड़ रहा था। आदमी कुत्ते के डर से भाग रहा था। आगे आदमी दौड़ रहा है, पीछे कुत्ता भाग रहा है। पर दोनों क्यों दौड़ रहे हैं? इस प्रश्न का उत्तर नियम को जान लेने पर ही दिया जा सकता है। आदमी भय के कारण दौड़ रहा है? जब भय बढ़ता है तब आदमी की एंड्रीनल ग्रन्थि का स्राव बढ़ जाता है। उस एंड्रीनलीन रस की गन्ध कुत्ते को आती है, कुत्ता गन्ध के पीछे दौड़ता है। आदमी के पीछे कुत्ता नहीं दौड़ता। कुत्ता दौड़ता है उस गन्ध के पीछे। आदमी भय को छोड़कर यदि खड़ा हो जाता है, कुत्ते को गन्ध आनी बन्द हो जाती है और वह भी खड़ा रह जाता है। दौड़ता हुआ आदमी स्वयं कुत्ते को दौड़ाता है। गन्ध का आकर्षण कुत्ते को दौड़ाता है।

आदमी खड़ा रहना नहीं जानता, इसलिये सब उसके पीछे दौड़ रहे हैं। यदि वह खड़ा रहना जान जाए तो कोई भी पीछे नहीं दौड़ेगा। स्वयं खड़ा रहे तो सब खड़े रह जाएंगे। हम नियम को नहीं जानते। दशवैकालिक आगम में एक श्लोक है—

‘हत्थसंजए पायसंजए, वायुसंजय संजइदिए।

अज्जप्परए सुसमाहियप्पा सुत्तत्थं च वियाणई जे स भिक्खु ।।’

इस श्लोक को पढ़ा तो लगा कि आगमकार ने कितनी छोटी-छोटी बातों का उल्लेख किया है। आगमकार कहते हैं—हाथ का संयम करो, पैरों का संयम करो, वाणी का संयम करो। ये सारी साधारण बातें हैं। किन्तु जब नियम का पता चला तब ज्ञात हुआ कि यह श्लोक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें दिये गये निर्देश बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। इस श्लोक का नियम मैं पहले प्रस्तुत कर चुका हूँ लेश्या के प्रकरण में, ‘आभामंडल’ ग्रन्थ में। दूसरे नियम को आज प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

यह एक श्लोक है। इसकी कम से कम सात सौ व्याख्याएं तो हो सकती हैं। एक नियम बतलाया गया है कि भगवान महावीर के प्रत्येक वचन की सात सौ व्याख्याएं की जा सकती हैं। यदि कोई अधिक प्रज्ञा वाला व्यक्ति हो और अधिक नयों का ज्ञाता हो तो उसकी सात हजार, सात लाख, सात करोड़ या सात अरब व्याख्याएं भी कर सकता है। परन्तु कम-से-कम सात सौ व्याख्याएं तो हमारे वश की बात है। यह तभी संभव है, जब हम नियम को जान जाएं। नियम का ज्ञान होने पर नई-नई बातें उद्घाटित की जा सकती हैं।

श्लोक में तीन तथ्य बताए गए हैं। हाथ का संयम करो, पैर का संयम करो और वाणी का संयम करो। इसके द्वारा तुम जितेन्द्रिय बन जाओगे। प्रश्न होता

है—कैसे होगा? हाथ का संयम होगा तो स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त हो जाएगी। ये सब जुड़े जुए हैं। इनके सम्बन्ध का नियम ज्ञात होने पर इनको जीतना सरल हो जाता है। आयुर्वेद के आचार्यों ने लिखा—आंख में पीड़ा हो तो पैर की अंगुलियों पर तेल लगाओ, आंख की पीड़ा शांत हो जाएगी। यह कैसा संबंध? ऊंट और गधे का रिश्ता। कहां आंख और कहां पैर! पर यह एक सचाई है। आंख और पैर—दोनों अग्नि तत्त्व से जुड़े हुए हैं। अग्नि तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है चक्षु और कर्मेन्द्रिय है पैर। दोनों का नियम परस्पर जुड़ा हुआ है। यह नियम हो जाने पर उनका संबंध मन में आश्चर्य पैदा नहीं करता। तेज धूप में चलते हैं तब पैर गर्म हो जाते हैं तो साथ-साथ आंखें भी गरमा जाती हैं। आंख बीमार होती है तो पैरों को ठंडे पानी में रखने से उसकी बीमारी शान्त हो जाती है। वायु तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है स्पर्शन और कर्मेन्द्रिय है हाथ। हाथ का और स्पर्शन इन्द्रिय का संबंध जुड़ा हुआ है। हाथ का संयम होने पर स्पर्शन इन्द्रिय वश में हो जाता है। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुआ है। इन्द्रियों पर विजय पाने के और भी सरल उपाय हैं। आंख को बंद कर दो, दिखाई नहीं देगा। कान में अंगुली डाल दो, सुनाई नहीं देगा। नाक में रूई डाल दो, सुगन्ध या दुर्गन्ध नहीं आएगी। परन्तु स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय कैसे पाई जाए? कोई उपाय ही नहीं लगता। यह सबसे जटिल प्रश्न था। परन्तु इस श्लोक का प्रथम शब्द 'हृत्थसंजए' इस प्रश्न का सचोट समाधान प्रस्तुत करता है। हाथ का संयम करो, स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त हो जाएगी। वायु तत्त्व का संबंध है स्पर्शन इन्द्रिय से। वायु तत्त्व का संबंध है हमारे हाथों से। ध्यान-काल में जिनको वायु अधिक सताता है, ज्यादा चंचलता लाने लगता है, तब एक मुद्रा की जाती है—वायु-विजय के लिये। साधक पद्मासन में बैठ कर हाथ के अंगूठों के निचले पोरों पर कनिष्ठा अंगुली को लगा देता है। इस मुद्रा के कुछ ही समय पश्चात् वायु का प्रकोप कम होने लग जाता है।

पैर का संयम करने से आंख का संयम हो जाएगा। वाणी का संयम करने से श्रोत्रेन्द्रिय का संयम हो जाएगा। दोनों आकाश तत्त्व से संबद्ध हैं। आकाश तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय है श्रोत और कर्मेन्द्रिय है वाक्।

जब हम इन सब नियमों को जान लेते हैं। तब यह श्लोक हमें बहुत महत्त्वपूर्ण लगता है। जब तक नियमों को नहीं जानते तब तक श्लोकगत बातें साधारण—सी लगती हैं। हाथ का संयम करो। हाथ का क्या संयम करें? क्या उसको हिलाएं नहीं? किसी को चांटा तो मार ही नहीं रहे हैं। फिर और अधिक क्या संयम करें? पैर का क्या संयम करें? किसी को लात तो मार ही नहीं रहे हैं। फिर कैसा संयम? जब नियम ज्ञात नहीं होता तब अनेक प्रकार के प्रश्न खड़े होते हैं। जब

नियम तक पहुंच जाते हैं तब सारे प्रश्न स्वतः समाहित हो जाते हैं।

मैंने प्रश्नकर्ता शिविरार्थी से कहा—तुम इसलिये कह रहे हो कि तुम नियम को नहीं जानते। नियम को जान लो, प्रश्न समाप्त हो जाएगा।

एक व्यक्ति ने किसी जौहरी से कहा—तुम मेरे घर पर चलो। मेरे पास एक बहुमूल्य हीरे की अंगूठी है। उसका सही मूल्यांकन कराना है। जौहरी उसके घर गया। पहले दरवाजे में प्रवेश किया। वह व्यक्ति बोला—देखो, यह राजस्थानी शिल्प है। कितनी सुन्दर कारीगरी है! शिल्पी ने कितना गजब का शिल्प प्रस्तुत किया है! दूसरे दरवाजे में प्रवेश किया। व्यक्ति ने जौहरी से कहा—देखो, कितना सुन्दर वातायन है। इसकी चित्रकला को देखो। कितने भव्य और सुन्दर चित्र हैं! चित्रकार ने अपनी सारी कला यहां अभिव्यक्त कर दी है। जौहरी बोला—भले आदमी! मुझे इन सब चीजों को देखने-परखने का समय नहीं है। मैं तो हीरे की अंगूठी देखने आया हूं। बताओ, वह कहां है? वह बोला—धैर्य रखो। जब तुम आ ही गए हो तो मेरी सारी चीजें देखो। यह नहीं होगा कि मैं सबसे पहले हीरे की अंगूठी दिखा दूं। घर आ ही गए तो सब कुछ देखना होगा।

दोनों ने तीसरे दरवाजे में प्रवेश किया। वह बोला—जौहरी जी! देखो, कितना सुन्दर स्थापत्य है! दुनिया में अन्यत्र ऐसा स्थापत्य देखने को नहीं मिलेगा।

इस प्रकार वह सातों दरवाजों का वर्णन करते-करते जौहरी को घुमाता रहा। एक-दो घण्टा बीत गया। फिर उसने कहा—यह हमारा अतिथिगृह है। यह हमारा स्वागत-कक्ष है। यह भोजन गृह और यह शयनकक्ष है। तुम स्वागत कक्ष में बैठो। मैं नाश्ते की तैयारी करता हूं। घर आए हो तो बिना खाए कैसे जाओगे?

इस प्रकार वह जौहरी का समय लेता रहा। नाश्ता कराया। फिर घर की छत पर ले गया। वहां से नगर का दृश्य दिखाया। फिर उसे भूमिगृह (भोंहरे) में ले गया। वहां उसे एक आसन पर बिठाया। आलमारी खोली। एक डब्बी निकाली। डब्बी को खोला। उसमें थी वह हीरे की अंगूठी। उस पर अनेक वस्त्र लपेट रखे थे। एक-एक वस्त्र खण्ड को अलग किया। फिर अंगूठी लेकर जौहरी से कहा—यह है मेरी हीरे की अंगूठी।

मैंने मेरे शिविरार्थी प्रश्नकर्ता से पूछा—क्या वह जौहरी मूर्ख था जो हीरे की अंगूठी देखने आया था और उसको देखने की प्रक्रिया में और-और पचासों चीजें देखीं? वह बोला—मूर्ख कैसे? यह तो क्रम ही है। यदि वह पहले दरवाजे में नहीं आता तो भूमिगृह में कैसे जाता? एक-एक दरवाजा पार करने पर ही तो वहां पहुंचा है। आलमारी नहीं खुलती तो डिबिया कैसे निकलती? डिबिया नहीं निकलती तो अंगूठी कैसे बाहर आती। यह तो क्रम है। सबको इसी क्रम में से गुजरना होता है। यह

मूर्खता क्यों? यह तो समझदारी है।

मैंने कहा—तो फिर तुम कैसे मूर्खता की बात करते हो? आत्मा को देखना चाहते हो, उसका साक्षात्कार करना चाहते हो तो क्या श्वास-दर्शन किये बिना आत्म-दर्शन हो जाएगा? श्वास-दर्शन प्रथम द्वार है। क्या प्रथम द्वार में प्रवेश किए बिना भूमिगृह में चले जाओगे? यह कभी संभव नहीं है। बाहर से छलांग मार कर भीतर नहीं पहुंचा जा सकता। एक-एक दरवाजे को क्रमशः पार करके ही भीतर तक पहुंचा जा सकता है। यह निश्चित नियम है। आत्मा तक पहुंचने के लिए सात दरवाजे, पार करने होंगे। पहले श्वास को देखना है। शरीर को देखना है। शरीर में होने वाले परिवर्तनों को—रसायनों को देखना है। शरीर की विद्युत् के आवेशों को देखना है। उस विद्युत् द्वारा होने वाले मस्तिष्कीय परिवर्तनों को देखना है। प्रत्येक कोशिका को देखना है। उसमें होने वाली प्रक्रिया को देखना है। इस प्रकार स्थूल शरीर की सीमा को पार कर, फिर सूक्ष्म शरीर—तैजस शरीर को देखना है। वहां उभरने वाले सारे प्रकम्पनों को देखना है, पकड़ना है। वहां आने वाले चित्रों को देखना है। वहां से आगे सूक्ष्मतम शरीर—कार्मण शरीर, कर्मशरीर तक पहुंचना है। वहां से सारा तंत्र संचालित होता है। बहुत बड़ा तंत्र है वह। वहां लाखों करोड़ों नहीं, असंख्य कर्मचारी कार्यरत रहते हैं। वे प्रत्येक क्रिया को सही ढंग से संचालित कर रहे हैं। वहां कुछ भी अन्यथा नहीं होता। उस पूरे तंत्र को देखना है। पूरे कर्मशरीर को देखना है। उसकी प्रत्येक क्रिया का साक्षात् करना है। इतना होने पर एक नया मार्ग खुलेगा। उस मार्ग पर बढ़ते ही सब कुछ प्रकाश ही प्रकाश नजर आएगा। यह है चेतना का दर्शन। यह है आत्मा का दर्शन, आत्मा का साक्षात्कार। यह है हीरे की अंगूठी, यह है उस हीरे की अंगूठी को देखने की प्रक्रिया।

तुम चाहते हो कि पहला दरवाजा खुले ही नहीं और आत्मा तक पहुंच जाएं, परमात्मा मिल जाए। यह कभी संभव नहीं है। प्राप्ति का क्रम है। उसका अतिक्रमण नहीं होना चाहिए। यह शरीररूपी मकान बहुत बड़ा है विशाल है। एक-एक कर इसमें सात परकोटे हैं। बिना इनको पार किये भीतर तक नहीं पहुंचा जा सकता। भीतर से बहुत बड़ी व्यवस्था है। उसे पूर्णरूपेण समझे बिना भीतर प्रवेश नहीं हो सकता। छलांग की बात मत करो। विकासवाद ने छलांग की बात कही। कुछेक लोग छलांग की बात करते हैं, उसमें विश्वास करते हैं। परन्तु अध्यात्म के मार्ग में, साधना के पथ में छलांग की बात सार्थक नहीं है। वहां क्रम से ही चलना पड़ता है। धीरे-धीरे एक-एक आयाम को पार कर, मंजिल प्राप्त करनी होती है।

मैंने कहा, अब तो समझ गये तुम कि श्वास को देखना आत्मा को देखना है। क्या दरवाजे को मकान से अलग किया जा सकता है? कभी नहीं। यदि दरवाजा मकान नहीं है तो कमरा भी मकान नहीं है। बाहर का कमरा भी मकान नहीं है तो भीतर का कमरा भी मकान नहीं है। यदि दरवाजा और कमरे मकान नहीं हैं तो फिर मकान है क्या? उसका अस्तित्व कहां है? दरवाजे को तोड़ दो, मकान कुछ रहेगा ही नहीं। दरवाजा भी मकान है, घर का आंगन भी मकान है। कमरा भी मकान है। सबको मिलाकर देखो, मकान नजर आएगा, सबको तोड़ कर देखो, कोई मकान रहेगा ही नहीं। क्या हाथ शरीर है? नहीं मानेंगे कि हाथ शरीर है। आदमी का हाथ सड़ गया। उसको काट कर अलग कर दिया तो क्या शरीर नहीं बचा? शरीर तो बचा, फिर हाथ शरीर कैसे? फिर पैर शरीर कैसे? फिर सिर शरीर कैसे? हाथ भी शरीर नहीं, पैर भी शरीर नहीं और सिर भी शरीर नहीं। तो फिर शरीर है क्या? सब को अलग-अलग तोड़कर शरीर को नहीं देखा जा सकता। प्रत्येक अवयव जुड़ा हुआ है, वह शरीर है। टूट जाता है, फिर वह शरीर नहीं होता। हम जुड़ी हुई बात को देखें।

श्वास आत्मा है। श्वास का दर्शन आत्मा का दर्शन है। यह आपको अजीब-सा लग सकता है, पर है यह सचाई। क्या कोई मुर्दा श्वास लेता है? कभी नहीं लेता। श्वास वही लेता है जिसमें प्राण होते हैं। प्राण उसमें होते हैं जिसमें चेतना होती है। चेतना उसमें होती है जिसके आत्मा है। आत्मा के बिना चेतना नहीं, चेतना के बिना प्राण नहीं और प्राण के बिना श्वास नहीं। श्वास चल रहा है। उसका संचालक कौन है? उसका संचालक है आत्मा। आत्मा के निकल जाने पर श्वास भी बन्द हो जाता है। तो क्या आत्मा के द्वारा जो संचालित है, उसे देखना आत्मा को देखना नहीं है? निश्चित ही आत्मा को देखना है। हम केवल श्वास को नहीं देखते उसके साथ चलने वाली प्राणशक्ति को भी देखते हैं। हम केवल चेतना को नहीं देखते उसके अधिष्ठान आत्मा को भी देखते हैं। इस तर्क के आधार पर कहा जा सकता है कि श्वास को देखना—आत्मा को देखना है। श्वास—दर्शन आत्मदर्शन है। इसलिए साधना के क्रम में जैसे आहारशुद्धि और इन्द्रियशुद्धि अपेक्षित है, वैसे ही श्वासशुद्धि भी बहुत आवश्यक है। जब तक श्वास की शुद्धि नहीं होती तब तक आत्म-दर्शन केवल कल्पना मात्र रह जाता है। मनोनुशासनम् में आनापान शुद्धि—श्वासशुद्धि के लिए चार बातें अपेक्षित बतलाई हैं—प्राणायाम, समतलश्वास, दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग। जब श्वासशुद्धि होती है तब आत्म-दर्शन का मार्ग प्रशस्त होता है।

पहला साधन है प्राणायाम। इसका अर्थ है—प्राण को आयाम देना। उसको

लम्बा-चौड़ा करना। प्राण संकुचित रहता है तो श्वास की शुद्धि नहीं होती। श्वास एक बहुत बड़ा तंत्र है। श्वास हमारे व्यक्तित्व के दोनों पहलुओं को बलवान बनाता है, उन्हें संतुलित बनाता है। हमारा एक पहलू है आंतरिक व्यक्तित्व का और दूसरा पहलू है बाह्य व्यक्तित्व का। श्वास दोनों पर शासन करता है। वह भीतरी जगत् को भी प्रभावित करता है और बाहरी जगत् को भी प्रभावित करता है। यह एक मध्य-सेतु है। जिसने श्वास का सही मूल्य नहीं समझा वह आगे नहीं बढ़ सकता। जो व्यक्ति मस्तिष्क का संतुलन करना चाहे और श्वास की उपेक्षा करे तो वह कभी सफल नहीं हो सकता। शरीर और मन का संतुलन श्वास के बिना नहीं हो सकता। इसलिए प्राणायाम बहुत जरूरी है।

दूसरा है दीर्घश्वास का प्रयोग। दीर्घश्वास वास्तव में सहज श्वास होता है। आदमी श्वास को सही ढंग से लेना नहीं जानता। श्वास तो छोटा होना ही नहीं चाहिये, लंबा होना चाहिए। इसलिए दीर्घश्वास पद का चुनाव किया है। सहज श्वास का मतलब ही है पूरा श्वास, गहरा श्वास। आदमी यह जानता ही नहीं। सुना है मैंने कि पाठ्य पुस्तकों में यह पढ़ाया जाता है कि जिस श्वास से छाती फूले और पेट सिकुड़े, वह सही श्वास होता है। यह कैसे लिखा गया? इसका आधार क्या है? होना तो यह चाहिए कि श्वास लेते समय पेट फूलना चाहिए, छाती नहीं। जिस श्वास से पेट नहीं फूलता, वह सही श्वास नहीं होता। श्वास के स्पंदन पेट तक पहुंचने चाहिए। यह सही है कि श्वास फेफड़ों से आगे नहीं जाता। फेफड़ों के आगे एक मांसपेशी है—डायफ्राम। इसे तनुपट कहा जाता है। उसके आगे श्वास जाने का रास्ता नहीं है। पर उसका दबाव आगे तक पहुंचता है, वह नाभि तक पहुंचता है। बच्चे को श्वास लेते देखें। जब वह सोता होता है, तब श्वास के साथ-साथ उसका पेट फूलता है। यही सही श्वास है, पर बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, भावनाओं और आवेशों से भरता है, वैसे-वैसे श्वास छोटा होता चला जाता है, गलत होता चला जाता है। भावनाओं का, आवेशों का श्वास के साथ गहरा संबंध है। गुस्सा आता है, वह श्वास को छोटा किए बिना नहीं आ सकता। आवेश या आवेग उतरता है, वह श्वास को छोटा किए बिना नहीं उतर सकता। हमारे श्वास की संख्या एक मिनट में सामान्यतया १५-१७ होती है। आवेश काल में वह ३०, ४०, ५०, ६०, तक बढ़ जाती है।

यह निश्चित नियम है कि आवेश को उतारने के लिए श्वास को छोटा होना ही पड़ता है। अन्यथा उसे उचित पृष्ठभूमि नहीं मिलती। बिना आधार के आवेश कैसे उतर सकता है? दीर्घश्वास की स्थिति में आवेश आ ही नहीं सकता। बचपन में आदमी दीर्घश्वास या सहजश्वास लेने में अभ्यस्त होता है परन्तु ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, श्वास छोटा करता चला जाता है या श्वास छोटा हो जाता है।

यह गलत श्वास है। सही श्वास है दीर्घश्वास। इसे लेना हम नहीं जानते। जो पचास-पचास वर्षों को पार कर चुके हैं, जो जज हैं, वकील हैं, डॉक्टर हैं वे भी सही ढंग से श्वास लेना नहीं जानते। बड़ी अजीब कहानी है हमारे समाज की, हमारे विज्ञान की कि जो पाठ पहली कक्षा में पढ़ाया जाना चाहिए था, वह पाठ जीवन भर नहीं पढ़ाया जाता, नहीं पढ़ा जाता। पहला पाठ उचित रूप से नहीं पढ़ा जाता, नहीं पढ़ाया जाता, इसलिए बाद में पढ़ाये जाने वाले सारे पाठ खतरनाक बन जाते हैं, सताने वाले बन जाते हैं। यदि पहला पाठ ठीक ढंग से पढ़-पढ़ा लिया जाता है तो आगे के सारे पाठ अधिक लाभदायक बन जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जो आदमी सही ढंग से श्वास लेना सीख जाता है, वह अपने जीवन में बहुत सफल होता है, फिर चाहे वह किसी भी क्षेत्र में रहे। व्यक्तित्व का निर्माता है सही श्वास और व्यक्तित्व का विघटक है गलत श्वास।

इसी परिप्रेक्ष्य में 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' ने एक परिकल्पना की है कि आज के प्रत्येक आदमी को जीवन विज्ञान का पाठ पढ़ाया जाए। प्रायः सभी विद्यालयों, शोध संस्थानों, एजुकेशनल इन्स्टीट्यूटों में अनेक विषय पढ़ाए जाते हैं। विद्यार्थी उन विषयों में निष्णात होकर निकलते हैं, पर जीवन विज्ञान का बच्चा अत्यन्त उपेक्षित जीवन जी रहा है। उसे कोई यह भी नहीं पूछता-क्यों बच्चे! प्यास तो नहीं लगी है? कौन पिलाए उस प्यासे बच्चे को पानी? और सबको अतिरिक्त भोजन परोसा जा रहा है, ठूस-ठूस कर खिलाया जा रहा है, पर इस भूखे-प्यासे बच्चे की ओर आंख उठाकर देखने के लिए किसी के पास समय नहीं है। बच्चा अत्यन्त उपेक्षित, उपेक्षित और उपेक्षित है।

जो आदमी जीवन-विज्ञान को नहीं पढ़ता, उसमें निष्णात नहीं होता वह समस्याओं से कभी मुक्ति नहीं पा सकता। फिर स्थिति आती है कि वह दूसरे के अधिकारों को, संपत्ति को हड़पने की चेष्टा करता है। और-और अनेक बुराइयां उसमें आती हैं।

एक डॉक्टर जा रहा था। एक युवक दौड़ा-दौड़ा आया और बोला-धन्यवाद डॉक्टर साहब, आपने मेरी भाभी का सफल इलाज किया, उसके लिए धन्यवाद देने के लिए आ गया। डॉक्टर ने पूछा-तुम्हारी भाभी एकदम स्वस्थ हो गई?

युवक बोला-हां, डॉक्टर साहब! वह समस्त रोगों से मुक्त हो गई। रोगों से ही नहीं इस संसार से मुक्त हो गई।

डॉक्टर बोला-फिर धन्यवाद कैसे?

डॉक्टर साहब! उसका वारिस मैं हूँ। उसकी सारी संपत्ति मुझे मिल गई।

उसकी सारी संपत्ति मुझे मिल गई। अच्छा इलाज किया आपने कि वह जल्दी चल बसी। अन्यथा उसकी संपत्ति को पाने के लिए मुझे दो-चार वर्ष और रुकना पड़ता। आपने बड़ा उपकार किया। धन्यवाद।

जो व्यक्ति जीवन-विज्ञान का पाठ नहीं पढ़ता, वह ऐसा ही करता है।

तीसरा साधन है—समताल श्वास। समताल श्वास का अर्थ है—श्वास लेने में जितना समय लगे, छोड़ने में भी उतना ही समय लगना चाहिए, कम या ज्यादा नहीं। इसका अभ्यास भी बहुत अपेक्षित है।

चौथा साधन है—कायोत्सर्ग शिथिलीकरण। कायोत्सर्ग के दो अर्थ हैं—काया को शिथिल करना और चेतना के प्रति जागृत रहना। आज का आदमी आवेशों के कारण बहुत तनावग्रस्त है। वह शिथिल होना नहीं जानता, छोड़ना नहीं जानता। वह कसना जानता है, ढीला होना नहीं। यह कसने की सबसे बड़ी समस्या है। एक बात दिमाग में आ गई, फिर वह जीवनभर नहीं निकलती। एक घटना घटित हो गई, वह मन से निकलती नहीं। किसी ने कुछ कह दिया, दिमाग में उसकी गांठ घुल जाती है। दिमाग तनावों से भर जाता है। प्रत्येक क्रिया उसमें तनाव पैदा करती है, प्रत्येक घटना तनाव पैदा करता है। घटना न घटे, यह कभी संभव नहीं। घटना घटती है। पर जो व्यक्ति श्वासशुद्धि की प्रक्रिया को जानता है, वह घटना से बंधता नहीं। घटना घटी, उसे जाना। बात समाप्त। उसका सघन संस्कार नहीं होता। पानी पर खींची हुई लकीर या बालू रेत में खींची हुई लकीर का संस्कार सघन नहीं होता। लकीर खींची और समाप्त। वह अधिक समय तक नहीं टिकती। पानी की लकीर तत्काल मिट जाती है। बालू की लकीर कुछ समय तक टिकती है। हवा चलते ही समाप्त हो जाती है। किन्तु जब वह विचार या घटना पत्थर की लकीर बन जाती है, तब भगवान ही बचाए। आज की प्रत्येक घटना आदमी के दिमाग में पत्थर की लकीर बनती जा रही है।

तनाव की समस्या से बचने के लिए कायोत्सर्ग ही एकमात्र उपाय है। इसका मतलब है—शिथिल बनो, ढीले बनो, इतने शिथिल की कहीं भी पत्थर की लकीर बने ही नहीं। पत्थर की लकीर बनने का मौका ही न मिले। कोई लकीर बने तो वह केवल बालू की लकीर या पानी की लकीर बने। लकीर बनी और समाप्त हो गई। बनने और समाप्त होने में समय न लगे। एक साथ हो। कायोत्सर्ग करते समय श्वास अपने आप शुद्ध और मन्द हो जाता है।

श्वास को शुद्ध और मन्द करने का चौथा साधन है—कायोत्सर्ग। प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास में इन सभी साधनों का प्रयोग होता है। जैसे-जैसे श्वास की शुद्धि होती है, वह पवित्र और निर्मल होता चला जाता है और हमारा आत्म-दर्शन

का स्फटिक पारदर्शी होता चला जाता है। एक दिन ऐसा आता है कि एक ओर खड़े हो तुम, एक ओर है यह पारदर्शी आत्मा और उसके पीछे झांक रही हैं तुम्हारी आंखें।

शारीरिक अनुशासन के सूत्र

एक साधक ने कहा—मैंने सुना है, शरीर अनित्य है, अशुचि है और अशुचि से उत्पन्न है। एक बार नहीं, अनेक बार मैंने सुना है। यहां मैं साधना के लिए आया। मुझे कहा गया—शरीर को देखो। बार-बार कहा गया, शरीर को देखो। मैं असमंजस में पड़ गया। जो अशुचि है, अनित्य है, नश्वर है, विजातीय है, गन्दा है, हाड़-मांस का पुतला है, उसको देखने का अर्थ ही क्या हो सकता है? साधना करनी है। किसी बड़ी चीज को देखना है। आत्मा-परमात्मा को देखने का प्रयोजन ही क्या हो सकता है? कोई प्रयोजन नहीं है। दूसर बात है, यह शरीर मिला है सुख-सुविधा का उपभोग करने के लिए। आराम से रहें, ठंडी हवा में रहें, ठंडा पीएं, गरम खाएं, सारी सुविधाओं को भोगें—यह है शरीर का प्रयोजन। शरीर, भोग का साधन है। यह भोग करने के लिए मिला है। हम बेचारे को क्यों सताएं? ध्यान में एक आसन पर बैठना होता है। सारा शरीर दुखने लग जाता है। पैर दर्द करने लग जाते हैं। शरीर पसीना-पसीना हो जाता है। यह शरीर को सताना है, कष्ट देना है।

प्रश्न बहुत हो सकते हैं, किन्तु यदि हम इन प्रश्नों में उलझते चले जाएं तो प्रश्न भी अनन्त होता चलेगा और उत्तर भी अनन्त होता चलेगा। समाधान कभी नहीं होगा। उलझना नहीं है। हम इस बात को स्वीकार कर लें कि शरीर अशुचि है, अपवित्र है, नश्वर है, अनित्य है और यह भी मान लें कि आदमी उसे सताता है। स्थूल बुद्धि से कही हुई बात स्थूल बुद्धि से स्वीकार कर लेनी चाहिए। कहने वाला जब अपनी स्थूल बुद्धि से कहता है तो उत्तरदाता को भी स्थूल बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए, जिससे कि कहने वाला भड़के नहीं।

मैंने प्रश्नकर्ता के दोनों तर्क स्वीकार कर लिए। मैंने कहा—शरीर अशुचि है, यह तुमने सुना और सुनाने वाले ने सुनाया। दोनों सही हैं। सुनने वाला भी गलत नहीं है और सुनाने वाला भी गलत नहीं है। हम मानते हैं, हर आदमी जन्म लेता है और मर जाता है। वह अनित्य है। हम जानते हैं, शरीर में से अशुचि पदार्थ निकलते हैं। यदि शरीर को साफ न किया जाए तो कोई पास में आकर बैठना भी नहीं चाहेगा क्योंकि भयंकर दुर्गंध उसमें से निकलने लग जाएगी। पसीने से बदबू आती है। मल-मूत्र से बदबू आती है। बहुत ही अपवित्र है शरीर। यह तो प्रकृति की अच्छी देन है कि हमारी देखने, सुनने और सूंघने की शक्ति सीमित है, सीमा में आबद्ध है। एक निश्चित आवृत्ति पर ही हमारी ज्ञानेन्द्रियां काम करती हैं। यदि

इन्द्रियां सीमा से परे का काम करने लग जाएं, तो आदमी अपने स्वयं के शरीर के पास भी नहीं रह सकेगा। वह इन्द्रियों के विषयों से इतना तनावग्रस्त हो जाएगा कि कुछ ही क्षणों में वह पागल बन जाएगा। प्रकृति की कोई ऐसी व्यवस्था है कि मनुष्य का ज्ञान तो बहुत विशाल है, परन्तु इन्द्रियां इस ज्ञान में से थोड़े से ज्ञान को स्वीकार करती हैं। यदि कान सारे शब्दों को सुनने लग जाएं तो आदमी एक ही दिन में पागल हो जाएगा। यदि आंखें सारी वस्तुओं को देखने लग जाएं तो आदमी सो नहीं पाएगा, पागल बन जाएगा। यदि घृणा सब कुछ सूंघने लग जाए तो हर क्षण के लिए आदमी प्रसन्न नहीं रह सकेगा। उसका जी मिचलाता ही रहेगा, बमन होता रहेगा। गंध आती रहेगी। प्रत्येक इन्द्रिय की व्यवस्था कर ली कि वह निश्चित आवृत्ति या फ्रीक्वेन्सी पर ही अपना कार्य करेगी। यह बहुत अच्छी बात हो गई। अन्यथा आदमी के लिए जीना दूभर हो जाता। वह तब कुछ भी नहीं सुन पाता, कुछ भी नहीं देख पाता और कुछ भी नहीं सूंघ पाता। वह इन विषयों से निरन्तर आक्रान्त रहता और पागल बन जाता। हमारे स्वयं के शरीर से इतनी बदबू निकलती है कि यदि नाक उसको ग्रहण करने लग जाए तो आदमी सहन ही नहीं कर पाएगा। पर यह नाक की अपनी सीमा है कि वह सारी गंध में अमुक-अमुक गंध ही स्वीकार कर पाता है, इसलिए आदमी जी रहा है।

एक बार वैज्ञानिक ने साउंड-प्रूफ मकान बनाया। उसमें बाहर की आवाज भीतर प्रवेश नहीं करती और अन्दर की आवाज बाहर नहीं जाती। कुछ वैज्ञानिक प्रयोग के लिए उस मकान के भीतर बैठे। मशीन की-सी आवाजें आने लगीं। उन्हें आश्चर्य हुआ कि ये आवाजें कहा से आ रही हैं? शब्द निरोधक मकान में बाहर से आवाजें कैसे आ सकती हैं? सोचने पर ज्ञात हुआ कि बाहर से कुछ भी नहीं आ रहा है, शरीर के भीतर जो एक विशाल फैंक्ट्री चल रही है, सारी उसकी आवाजें हैं। रक्त चल रहा है धमनियां कार्यरत हैं, सारा नाड़ी तंत्र सक्रिय हैं—ये सब आवाजें उनकी हैं।

जब बाहर की आवाज होती है तब भीतर की आवाजें नहीं सुनाई देती। जब बाहर की खटखटाहट बन्द होती है तब पता चलता है कि भीतर में कितनी आवाजें हो रही हैं। जब व्यक्ति ध्यान की गहराई में आता है, शरीर-प्रेक्षा में एकाग्र होता है तब उसे ज्ञात होता है कि शरीर में कहां-कैसे स्पन्दन हो रहे हैं। पहले पता ही नहीं चलता। हमारे शरीर की ऐसी व्यवस्था है, तभी आदमी जीवन जी पाता है।

मैं इस बात से इन्कार नहीं करता कि शरीर अपवित्र है, अशुचि है और इस बात को भी स्वीकार करता हूँ कि ध्यान की विविध प्रक्रियाओं में शरीर को कष्ट होता है। सात बजे उठने वाले लोग चार बजे उठते हैं, यह शरीर को कष्ट ही है।

एक भाई ने कहा—मैं इसे कष्ट नहीं मानता। जागना कष्ट नहीं है, आनन्द है। मैं सात बजे उठता था। अब चार बजे उठता हूँ। तीन घंटा अधिक जागता हूँ। जागने का लाभ प्रत्यक्ष है।

शिविर में प्रतिदिन चार बार एक-एक घंटा का ध्यान कराया जाता है। यह बहुत अधिक है। शरीर इतना अभ्यस्त नहीं है कि इसको सहन कर सके। प्रारम्भ में कम होना चाहिए।

मैंने कहा—न हो तो और अच्छा है। जरूरत ही क्या है? इससे अच्छा है नहीं होना। हम उतना ही करवाते हैं, जितना आवश्यक लगता है। यदि इतना न हो तो यथेष्ट परिणाम नहीं आ सकते। इतना नहीं किया जाता तो फिर न करना ही अच्छा है।

उसने कहा—आसन किए जाते हैं। शरीर दुखने लगता है। कमर में दर्द हो जाता है। पैर दुखने लगते हैं। मांसपेशियों में दर्द उभर आता है। तो क्या आसन करना शरीर को सताना नहीं है? मैं बोला—आसन में दर्द नहीं होता। आसन से विकृति के साथ छोड़छाड़ होती है। स्नायुओं को वैसा अभ्यास नहीं है। अभ्यास करने का अर्थ है, उनसे छोड़छाड़ करना। छोड़छाड़ प्रतिक्रिया पैदा करता है। कोई छोड़छाड़ करे, और सामने वाला प्रतिक्रिया न करे तो फिर शरीर वीतराग हो जाएगा। तुम छोड़छाड़ करो और शरीर प्रतिक्रिया न करे, यह कैसे सम्भव हो सकता है? रोग है। दवा मत लो। कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी। रोग पड़ा रहेगा। जैसे ही रोग के साथ छोड़छाड़ की, वहां रिएक्शन होगा। प्रतिक्रिया होगी। भयंकर प्रतिक्रियाएं होती हैं। इसे शरीर को सताना माना जाता है। स्थूल दृष्टि से यह सही लगता है। आदमी हमेशा स्थूल को ही पकड़ता है। गहराई तक वह नहीं जाता।

मालिक ने झुंझलाकर अपने नौकर से कहा—तुम बड़े गधे हो। नौकर ने हाथ जोड़कर कहा—मालिक! बड़े तो आप हैं, मैं तो छोटा हूँ।

नौकर बात को पकड़ नहीं सका। स्थूल बुद्धि वाला स्थूल बात को पकड़ सकता है। वह गहराई तक नहीं जा सकता। वह यह समझ ही नहीं पाता है कि क्या कहा जा रहा है और मैं क्या कह रहा हूँ। हमेशा यही स्थिति बनती है।

मैंने आगे कहा—मित्र! गहराई में पैठने का प्रयास करो। तुम कहते हो, शरीर सताया जा रहा है। इस भाषा को बदल दो। अर्थ को समझो, भाषा बदल जाएगी। शरीर सताया नहीं जा रहा है, साधा जा रहा है। शरीर को सताना एक बात है और शरीर को साधना दूसरी बात है। यह सताना नहीं है, शुद्धिकरण है। यह कायाशुद्धि है, शरीर की शुद्धि है। जब तक शरीर की शुद्धि नहीं होगी, शरीर

में जमे हुए मलों को दूर नहीं किया जाएगा तब तक प्रकाश नहीं होगा। यदि प्रकाश करना है तो मलों को साफ करना होगा। यदि आलोक करना है तो धुंधलापन मिटाना होगा। कांच जब धुंधला हो जाता है तब वह प्रतिबिम्ब को पकड़ नहीं सकता। कांच प्रतिबिम्ब को प्रकट करता है। पर यदि मैला है, तो प्रतिबिम्ब प्रकट नहीं होगा। क्या अन्धे कांच से लालटेन का प्रकाश बाहर आ पाएगा? कभी नहीं। कांच को साफ करना ही होगा। सफाई करने में कष्ट होता होगा पर सफाई का उद्देश्य कष्ट देना नहीं होता। कष्ट देना और कष्ट होना, दो भिन्न-भिन्न बातें हैं। ये दोनों एक नहीं हैं।

काया को साधने में कष्ट हो सकता है, पर हमारा उद्देश्य शरीर को कष्ट देना नहीं है। कष्ट देने का उद्देश्य हो ही कैसे सकता है? साधना का और धर्म का एकमात्र उद्देश्य है—दुःख-मुक्ति, सभी दुःखों से छुटकारा पाना। तो क्या जो दुःख से छुटकारा दिलाता है, वह दुःख देने वाला हो सकता है? दुःख से दुःख ही मिलता है। दुःख से सुख नहीं मिलता। जिसका लक्ष्य है दुःख पाना और जो दुःख पाने के उद्देश्य से अपने आपको दुःखी बनाता है, वह सदा सुःखी ही बना रहेगा। भगवान महावीर ने कहा—‘दुःखी दुःख को प्राप्त होता है। सुखी कभी दुःख को प्राप्त नहीं होता।’ हम इस तथ्य को और गहरे उतरकर समझें। काया को साधने के लिए उसे तपाना पड़ता है। खदान से सोना निकलता है। पर सोने की ईंटे उससे सीधी प्राप्त नहीं होती। कितनी तेज आंच में से उस सोने के पत्थर को गुजरना होता है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह इतनी तेज आंच सहता है, इसीलिए मिट्टी में से चमकता हुआ पीला सोना बाहर निकल आता है। यदि सोना कहे—मुझे सताओ मत। मुझे जलाओ मत। क्या वह कभी सोना बन पाएगा? वह मिट्टी ही बना रहेगा। यदि सोने को सोना बनना है, सोने के रूप में, चमकते पीले रूप में उसे प्रकट होना है तो तेज आंच से गुजरना ही होगा। सोने को तेज आंच से गुजरने का अर्थ उसका सताना नहीं है। सारा प्रयत्न उसको चमकाने के लिए होता है। उद्देश्य भिन्न है। एक उद्देश्य होता है चमकाने का और एक उद्देश्य होता है, सताने का। गुरु अपने शिष्य को प्रताड़ना देता है, उसे मिटाने के लिए नहीं, किन्तु उसे चमकाने के लिए। मिटाने का उद्देश्य होता है वहां सताना होता है और जहां चमकाने का उद्देश्य होता है वहां सिद्ध करना होता है।

आसन इसलिए किए जाते हैं कि शरीर में जमे हुए मैल निकल जाएं, शरीर सिद्ध हो जाए, शरीर साध लिया जाए।

कुछेक लोग कहते हैं कि श्वास फेफड़ों में पूरा पहुंचता ही नहीं। कैसे पहुंचे? बीच में कितने अवरोध पैदा कर रखे हैं? इतने मल और दोष जमा हैं कि श्वास को आगे जाने का अवकाश ही नहीं मिल पाता। यदि किसी वैद्य को चिकित्सा

करनी पड़े तो कई दिनों तक विरेचन देना पड़े, तब पेट की सफाई हो सकती है, जमे हुए मल निकल जाते हैं। फेफड़े, पेट, नाड़ी-संस्थान साफ भी हो जाएं, अवरोध मिट जाएं तो भी साधक की दृष्टि से इतना पर्याप्त नहीं है। साधक को और अधिक सफाई करनी होगी। चिकित्सा की दृष्टि में मल साफ हो गया, शरीर स्वस्थ हो गया, किन्तु एक साधक उससे आगे की बात सोचता है। वह शरीरावरोधक मल को ही साफ नहीं करता, चेतना के क्षेत्र में अवरोध उत्पन्न करने वाले मलों को भी साफ करता है। उन मलों की सफाई के लिए भारी मात्रा में विरेचन अपेक्षित होता है। इस विरेचन में और शारीरिक शुद्धि के लिए प्रयुक्त विरेचन में अन्तर होता है। यह विरेचन है—आसन, प्राणायाम, व्यायाम आदि।

कायशुद्धि के पांच उपाय हैं—कायोत्सर्ग, आसन, बंध, व्यायाम और प्राणायाम। ये पांचों शरीर की प्रवृत्ति से जमने वाले मलों को साफ करते हैं। किन्तु शरीर में कोरा शरीर प्रवृत्ति का ही मल नहीं जमता। उसमें मल जमता है—भावना, आसक्ति और अन्तःकरण के द्वारा। संस्कारों का मल भी जमता है। आज परीक्षण किए जा चुके हैं कि विचारों के विष हमारे नाखूनों और शरीर के विभिन्न अवयवों में जमा होते हैं। वे अन्यान्य विरेचन या कायोत्सर्गादि उपायों से साफ नहीं किये जा सकते। कोई भी डॉक्टर या वैद्य भी इनकी धुलाई नहीं कर सकता। इनकी धुलाई होती है—निस्संगता के द्वारा, अनासक्ति के द्वारा और विचारों के स्नेहीकरण के द्वारा। कायशुद्धि का यह छठा उपाय है।

जहां शरीर में इतनी गन्दगी भरी पड़ी है, वहां उसको शुद्ध किये बिना, शरीर को साधे बिना, क्या हमारा लक्ष्य पूरा हो सकेगा? क्या हम चैतन्य विकास की दिशा में आगे बढ़ सकेंगे? कभी संभव नहीं है।

स्वास्थ्य का एक महत्वपूर्ण उपाय है—रीढ़ का लचीला होना। जिसकी पृष्ठरज्जु लचीला नहीं होती वह न शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होता है और न मानसिक दृष्टि से स्वस्थ होता है। आज के व्यक्तियों की रीढ़ लचीली नहीं है और हो भी कैसे सकती है? बेचारी को भोजन भी नहीं मिलता। यदि पेट को पूरा भोजन नहीं मिलता है तो पेट लड़ाकू है, वह अपना सामान जुटा लेता है। जो चुप रहता है, वह उपेक्षित होता है। संभव है इसलिए लड़ाकूवृत्ति का विकास हुआ। बिना लड़े काम नहीं चलेगा। लड़ो, लड़ो और लड़ते रहो। कुछ लोगों का यह विचार ही है कि दुनिया का नियम है—संघर्ष, लड़ाई। इसीलिए सामाजिक चेतना के क्षेत्र में काम करने वाले लोगों ने कहा—संघर्ष हमारे जीवन का नियम है। अनेक समाजशास्त्रियों ने, विकासवादियों ने और द्रुतसंचारवादियों ने भी इसी का समर्थन किया। सचमुच

उन्होंने सचाई का उद्घाटन किया। दुनिया की प्रकृति है कि बिना लड़े काम नहीं चलता। इसीलिए यह कहावत भी प्रचलित हो गई—'बिना रोए मां भी स्तनपान नहीं करती।' जब बच्चा रोता है, तभी मां उस ओर ध्यान देती है। बच्चा शांत सोया रहे तो मां का ध्यान उस ओर जाता ही नहीं।

लड़ने की बात अनिवार्य हो गई। पेट लड़ाकू है। पाचन-संस्थान लड़ाकू है, आंते लड़ाकू हैं। एक ही उपवास में दिन के तारे दिखने लग जाते हैं। बड़ी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। किन्तु हृदय, गुर्दे, मस्तिष्क, रीढ़ की हड्डी—ये आक्रामक नहीं हैं, लड़ाकू नहीं हैं। इन पर हम ध्यान ही नहीं देते। इसीलिए अनेक मल जमा होते चले जाते हैं। हमारे शरीर में रीढ़ की हड्डी का बहुत महत्त्व है। सारे स्नायु इसमें से गुजरते हैं, चाहे वे स्नायु ऊपर से नीचे या नीचे से ऊपर जाते हों, ये सब इसमें से गुजरते हैं। यह एक ऐसा मार्ग है जो सबको नियन्त्रित करता है। जो व्यक्ति रीढ़ की हड्डी को नहीं साध लेता वह साधना के क्षेत्र में बहुत सफल नहीं हो सकता। जिसकी रीढ़ की हड्डी लचीली नहीं है वह मानसिक दृष्टि से अधिक विकसित नहीं हो सकता और शारीरिक दृष्टि से भी वह स्वस्थ नहीं हो सकता। अड़कन होना, दर्द होना आदि सब इसी के परिणाम हैं। इसीलिए एक कुशल डॉक्टर सबसे पहले इस बात को देखता है कि रीढ़ की हड्डी कैसी है?

आज एक चिकित्सा-पद्धति प्रचलित है, इसका नाम है 'ऑस्टिओपेथी।' उसमें रीढ़ की हड्डी के आधार पर पूरे शरीर की चिकित्सा की जाती है। देखा जाता है कि रीढ़ की हड्डी में कहां खराबी है? क्या आदमी ने कभी रीढ़ की हड्डी को लचीला बनाने का प्रयास किया है? क्या कभी वह उसे पोषण देता है? कभी नहीं। इस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता।

रीढ़ की हड्डी को लचीला करने का उपाय है—आसन। आसने के द्वारा उसको रक्त मिलता है। आसन के द्वारा उसको मालिश मिलती है। ये दोनों उसे लचीली बनाते हैं। हलासन, अर्द्धमत्स्येन्द्रासन आदि आसनों के द्वारा रीढ़ की हड्डी को पूरा रक्त मिल जाता है और उसकी अच्छी मालिश हो जाती है। वह लचीली होती है। उसकी शक्ति बढ़ती है। रीढ़ की हड्डी लचीली होती है तो मन भी लचीला होता है और शरीर भी लचीला होता है। किन्तु आदमी इन उपायों को काम में नहीं लेता। दवाई में जितना विश्वास है, उतना विश्वास इन आसनों में नहीं है। यही कारण है कि वह सदा बीमार ही बना रहता है।

यह प्रज्ञा-प्रदीप ध्यान-साधना का केन्द्र है। दूसरे शब्दों में कहूं तो यह आदमी के विभिन्न दर्दों के प्रकट होने का केन्द्र है। आदमी विभिन्न प्रकार के दोषों का भण्डार है। वह यहां आता है। साधना करता है। दोष उभरते हैं, उखड़ते हैं।

शरीर में अनेक स्थानों पर दोष दर्दरूप में प्रकट होते हैं।

एक अनुभवी संन्यासी था। उसके पास एक शिष्य आया। शिष्य ने प्रसन्न होकर कहा—लो, यह तेल देता हूँ, यह चमत्कारी तेल है। इसे शरीर में चुपड़ लेना। शरीर सिद्ध हो जाएगा। संन्यासी चला गया। उसने शरीर पर तेल चुपड़ लिया। भक्त लोग आते हैं और शिष्य के शरीर को देखकर दूर से ही भाग जाते हैं। एक दिन बीता दो दिन बीते, तीन दिन बीते। उसने सोचा, यह क्या हो गया? सैकड़ों भक्त आते, बैठते, प्रवचन सुनते, अब दूर से ही भाग जाते हैं। यह क्यों? वह अपने गुरु के पास गया और बोला—गुरुदेव ! यह कैसे परिवर्तन आ गया भक्तजनों में? कोई पास आता ही नहीं। गुरु ने कहा—इन दिनों तुमने कोई प्रयोग किया था? शिष्य बोला—कोई प्रयोग नहीं किया। एक संन्यासी आया था। उसने तेल दिया था। मैंने उसको शरीर पर चुपड़ लिया था। बस, इतना ही किया था। गुरु ने उसका शरीर सूंधा और सूंधकर कहा—अरे गजब कर दिया तुमने! वह सुदर्शन तेल था। उसको लगाने से शरीर पारदर्शी हो जाता है और मन का प्रतिबिम्ब उसमें निखर आता है। तेरा मन अभी सधा नहीं है। उसमें अनेक दोष हैं। वह विकृत है, गन्दा है। इतने दिन तक वह ढका पड़ा था। कोई उसे जान नहीं पाता था। इस तेल के प्रभाव से तेरा अन्तःकरण शरीर में प्रतिबिम्बित हो गया। भक्त आता है, देखता है और सोचता है—जिन्हें हम प्रणाम करते हैं, भगवान मानते हैं, विरक्त मानते हैं, वे हृदय से इतने गंदे हैं, मन से इतने विकृत हैं, तो हम इन्हें कैसे प्रणाम करें? कैसे इनकी भक्ति करें। वे देखते ही भाग जाते हैं। शिष्य ! इसे उतारो। तुम्हारे लिए तो तिलों का या सरसों का तेल ही लाभदायक है।

यह सुदर्शन तेल की कथा है। प्रज्ञा-प्रदीप भी सुदर्शन तेल का काम कर रहा है। जो लोग यहाँ साधना करने आते हैं, उनके दोष प्रकट होते हैं। भीतर में जो कुछ एकत्रित कर रखा है, वह बाहर आता है। जब दोष बाहर निकलना चाहते हैं, तब आदमी घबरा जाता है। वह शिकायतों से भर जाता है। वह कहता है—मैं साधना करने यहाँ आया था, परन्तु पैरों का दर्द बढ़ गया। कमर में दर्द हो गया। गर्दन दुखने लगी। पेट भी ठीक नहीं है। मैं समझता हूँ, प्रगट होना अच्छा है। दोषों का अपनयन लाभदायक है। इससे शरीर सधता है। कार्य-सिद्धि का यही उपाय है।

साधनाकाल में जो कुछ किया जाता है वह शरीर को सताने के लिए नहीं, किन्तु शरीर को साधने के लिए किया जाता है। शरीर को साधने में कष्ट अवश्य ही होता है, पर साधना का प्रयोजन कष्ट पहुंचाना नहीं है। आदमी बीमार होता है। वह दवाई लेता है। क्या दवा लेना कष्टकर नहीं होता? बहुत कष्टदायी होता है। इन्जेक्शन लग गया आधे मिनट में, पर उसका दर्द पांच दिन तक भी नहीं

मिटता। दर्द होता है, ज्वर आ जाता है और कभी-कभी पक जाता है। ऐसी स्थिति में उस रोगी को भंयकर कष्ट से गुजरना होता है। इंजेक्शन सताता है, परन्तु क्या इंजेक्शन शरीर को सताने के लिए दिया जाता है? नहीं। उसका उद्देश्य सताना नहीं है, रोग मिटाना है। क्या आपरेशन शरीर को सताने के लिए किए जाते हैं? नहीं। शरीर को कष्ट अवश्य ही होता है, पर आपरेशन का उद्देश्य सताना नहीं हो सकता। जहां बीमारी को, दोष को मिटाने की बात प्राप्त है वहां कष्ट की बात भी प्रसंगोपात है, उसे अलग-थलग नहीं किया जा सकता।

मैं उस भाई की बात को स्वीकार करता हूं। फिर शरीर की सिद्धि में शरीर को सताने की बात आ सकती है, किन्तु सताने के लिए नहीं सताया जा रहा है, अपितु बीमारी को मिटाने के लिए या शरीर को साधने के लिए किया जा रहा है, कष्ट भी हो सकता है और सताने जैसी भाषा भी हो सकती है। कायसिद्धि में आसन, प्राणायाम, बंध आदि सारे उपाय उपादेय हैं। किन्तु इन सब में महत्त्वपूर्ण है, निस्संगता का प्रयोग।

शरीर भानुमती का पिटारा है। यदि कोई आदमी अपना पूरा जीवन लगा दे फिर भी वह पूरे शरीर को नहीं समझ पाता। बहुत पेचीदा है शरीर तंत्र। शरीर पर चमड़ी दिखाई देती है। कोरा रंग और रूप दिखाई देता है। चमड़ी इतनी ही नहीं है। इसकी रचना को देखें। इसके एक वर्ग सेंटीमीटर में दो लाख कोशिकाएं हैं। हमारी चमड़ी में पसीना निकालने वाली दो लाख ग्रन्थियां हैं। चमड़ी का पूरा विवरण पढ़ने पर लगता है कि चमड़ी का यह कारखाना बहुत विशाल और पेचीदा है। मैं कोरी चमड़ी के विषय की बात कर रहा हूं। बहुत लम्बी-चर्चा है।

शरीर को साधने के लिए निस्संगता-अनासक्ति बहुत जरूरी है। आसक्ति के द्वारा शरीर में अनेक दोष आते हैं। जब-जब हमारे मन में मूर्च्छा के भाव जागते हैं, आसक्ति जागती है तब शरीर का कण-कण मल से भर जाता है। बड़ी दयनीय स्थिति बन जाती है। आदमी समझ ही नहीं पाता। वह मल अनासक्ति के द्वारा ही घुलता है।

शरीर-प्रेक्षा, कायोत्सर्ग, निस्संगता-ये सारे प्रयोग चेतना के प्रति जागने के प्रयोग हैं। ध्यान का अर्थ शून्यता नहीं है। ध्यान का अर्थ होता है चेतना के प्रति जागना और फिर उसका साक्षात्कार करना। ध्यान के दो अंग हैं-जागना और फिर उसका साक्षात्कार करना। पहले जागना होता है। और जैसे-जैसे जागृति का अभ्यास बढ़ता है, वह परिपक्व होता है तब साक्षात्कार की बात आती है। श्वास का साक्षात्कार, शरीर का साक्षात्कार, शरीर के अवयवों का साक्षात्कार और होते-होते एक दिन आता है कि चेतना का साक्षात्कार हो जाता है।

उस भाई का तर्क ठीक है कि शरीर गंदा है। वह बाहर के पदार्थों से भी गंदा है और आसक्ति के द्वारा जमने वाले मलों से भी गन्दा बनता है। उस गन्दगी को साफ करने के लिए शरीर-प्रेक्षा बहुत बड़ा साधन है। हम यह नहीं कह सकते हैं कि शरीर गन्दा ही है या शरीर गन्दा नहीं है। शरीर गन्दा है, यह भी सच है और शरीर शुद्ध है, यह भी सच है। यदि शरीर कोरा गंदा होता तो प्रेक्षा-ध्यान में शरीर को देखने की बात नहीं होती। शरीर गंदा न हो तो उसकी सफाई की बात भी प्राप्त नहीं होती। दोनों कथन सापेक्ष हैं।

गुरु जा रहे थे। साथ में दस-बीस शिष्य थे। गुरु को प्यास लगी। शिष्य दौड़ा-दौड़ा गया। पानी भर लाया। गुरु ने देखा, कहा, अरे, इतना गन्दा पानी! शिष्य बोला-ठहरें, दस-मिनिट बाद साफ पानी ले आऊंगा। दस मिनिट बीते। साफ पानी ले आए। गुरु बोले-अरे, पहले इतना गंदा पानी और अब इतना साफ पानी! शिष्य बोला-महाराज! नदी से पहले गाड़ियों का समूह गुजरा था। पानी गुदला गया था। अब वह पानी धीरे-धीरे साफ हुआ है, नितर गया है। सारा मल नीचे जम गया है। गुरु ने कहा-हमारी भी यही स्थिति है। जब आसक्ति की गाड़ियां गुजरती हैं तब चेतना गन्दी हो जाती है। जब आसक्ति मिटती है तब चेतना शुद्ध हो जाती है, निर्मल हो जाती है। चेतना ही निर्मल नहीं होती, साथ-साथ शरीर भी निर्मल होता है।

दो दृष्टिकोण हैं, एक है शरीर को सताना और दूसरा है शरीर को साधना। एक है शरीर का गन्दा होना और एक है शरीर का निर्मल होना। यदि हमारा दृष्टिकोण बदल जाए, चश्मा बदल जाए तो फिर गंदे शरीर को छोड़कर पवित्र चेतना की दिशा में प्रस्थान हो सकता है। यदि दृष्टिकोण बदल जाए तो शरीर को सताने की बात छोड़कर, काया को साधने की दिशा में प्रस्थान हो सकता है। यह है हमारी कायसिद्धि का उपाय और प्रयोजन।

वाचिक अनुशासन के सूत्र

दर्शन के एक विद्यार्थी ने पूछा—हमारे जगत् में सबसे ज्यादा मूल्यवान क्या है? क्या चेतना का मूल्य सबसे अधिक नहीं है? मैं समझता हूँ उसका मूल्य सबसे अधिक है, क्योंकि सारे मूल्य उसी के द्वारा प्रस्थापित होते हैं। चेतना का जगत् है, इसलिए मूल्य हैं सारे। यदि चेतना न हो तो कोई मूल्य हो नहीं सकता।

मैं दो क्षण मौन रहा। उसकी वाक् से सहमत होने में भी मुझे कठिनाई का अनुभव हो रहा था और असहमत होने में भी कठिनाई का अनुभव हो रहा था। कभी-कभी ऐसे प्रश्न सामने आते हैं कि उनको स्वीकार करना भी कठिन होता है और अस्वीकार करना भी कठिन होता है। मैंने कहा—मैं तुम्हारी प्रस्तावना से पूर्णरूपेण सहमत भी नहीं हूँ और असहमत भी नहीं हूँ। इसमें कोई संदेह नहीं है कि चेतना बहुत मूल्यवान है। हम सारे मूल्यों की चर्चा चेतना के आधार पर ही करते हैं। जड़ जगत् में मूल्यों की चर्चा कभी नहीं होती। जानते ही नहीं, मूल्यों की क्या चर्चा करेंगे? मूल्यों का ज्ञान ही नहीं है तो उसकी चर्चा कैसे होगी? अवचेतन जगत् में किसी मूल्य की प्रस्थापना नहीं होती, मूल्यों का कोई सिद्धांत नहीं होता, मूल्यों की कोई चर्चा नहीं होती। ये सारे सिद्धांत बनते हैं चेतना के जगत् में। इसलिए चेतना को सर्वोपरि मूल्य दिया जाए, यह तर्क-संगत है। किन्तु सर्वांगीण दृष्टिकोण से देखने पर लगेगा कि यह बात तर्क-संगत होते हुए भी त्रुटिपूर्ण है। चेतना मूक होती है। उसके पास वाणी नहीं होती। चेतना अपने तक सीमित है। उसका विस्तार नहीं होता। चेतना का सारा जगत् छोटा है। उसमें विस्तार नहीं है। दुनिया का सारा विस्तार वाणी के माध्यम से हुआ है। यदि वाणी न हो तो हमारी दुनिया सिमट जाए। यदि भाषा न हो, शब्द न हो तो विस्तार की बात ही नहीं हो सकती। दुनिया सिमट जाती है। फिर कोरा व्यक्ति बचेगा, समाज नहीं बनेगा, संबंध नहीं बनेगा। समाज का विस्तार और संबंधों का विस्तार वाणी के माध्यम से होता है। इसलिए मैं मानता हूँ कि हमारी दुनिया में सबसे अधिक मूल्यवान है वाणी। समूची दुनिया वाणी के द्वारा निर्मित है।

कुछेक दार्शनिकों ने यह प्रस्थापना की कि संसार शब्द से उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में शब्द पैदा हुआ और शब्द से सारी सृष्टि का निर्माण हुआ। मुझे लगता है कि यह कथन वास्तविकता पर आधारित है।

सृष्टि का विस्तार वाक् से होता है, वाणी से होता है। यदि वाणी नहीं होती तो एक आदमी किसी दूसरे आदमी के साथ संबंध स्थापित नहीं कर पाता।

कोई माध्यम ही नहीं बनता। न स्मृति होती, न कल्पना होती और न चिन्तन होता। ज्ञान के तीन पहलू हैं—स्मृति, कल्पना और चिन्तन। ये तीनों वाणी के आश्रित हैं। मन और वाणी को अलग करना समझ में नहीं आता। क्या वास्तव में मन और वाणी दो हैं? जैन आचार्यों ने इस प्रश्न पर बहुत गहराई से विचार किया है। उन्होंने कहा—एक स्थिति में मन और भाषा दो नहीं रहते, एक बन जाते हैं। आज के मनोवैज्ञानिक भी इसी भाषा में सोचते हैं कि मन और भाषा को सर्वथा पृथक् नहीं किया जा सकता। मन का काम है—स्मृति करना, कल्पना करना, चिन्तन करना, मनन करना। क्या कोई ऐसी स्मृति है जिसमें भाषा का साथ न हो? क्या कोई ऐसी कल्पना होती है जिसमें भाषा और शब्द न हो? क्या कोई ऐसा चिन्तन होता है जिसमें भाषा या शब्द का उपयोग न हो? भाषा से गुप्त कोई स्मृति नहीं हो सकती। भाषा से गुप्त कोई कल्पना नहीं हो सकती। भाषा से गुप्त कोई चिन्तन नहीं हो सकता। स्मृति, कल्पना और चिन्तन तीनों के लिए शब्द चाहिए। बिना शब्द के वे लगड़े हैं, चल ही नहीं सकते। तो फिर मन और वाणी या भाषा या शब्द को अलग करने की सीमा कहां है? मुझे लगता है कि यह बात हमें सीमा का बोध करायेगा कि भाषा को मूक मन कहा जा सकता है और मन को मुखर भाषा कहा जा सकता है। जब मन मुखर होता है, बोलने लगता है, तब मन का नाम भाषा हो जाता है और भाषा जब मूक बनती है, तब मन का नाम भाषा हो जाता है। कितना ही बड़ा ज्ञानी हो, अतीन्द्रियद्रष्टा हो, यदि उनके पास भाषा नहीं है तो वह दुनिया के काम का नहीं होता। केवलज्ञानी और अवधिज्ञानी भी भाषा के अभाव में अनुपयोगी बन जाते हैं। केवलज्ञानी भी मूक हो सकता है। वह जानता सब कुछ है पर बता नहीं सकता। वह दुनिया के लिए अनुपयोगी होता है। मुनि के लिए एक विशेषण है—‘तिन्नाणं तारयाणं’—मुनि स्वयं तरता है और दूसरों को तारता है। वह स्वयं अपनी समस्याओं का पार पाता है और दूसरों को भी समस्याओं से पार पहुंचाता है। यह सब भाषा के माध्यम से ही संभव हो सकता है। भाषा के बिना ऐसा नहीं हो सकता। भाषा के अभाव में वह स्वयं तैर सकता है, दूसरों को नहीं तैरा सकता। ‘तिन्नाणं तारयाणं’ वाली बात भाषा के आधार पर ही सफल होती है।

दुनिया में तीन प्रकार के लोग हैं।

एक बादशाह था। उसको एक नौकर की जरूरत थी। परीक्षण के लिए अनेक लोगों को बुलाया। जब आदमी रखना था तो परीक्षण जरूरी था। क्योंकि आदमी बहुत काम देने वाला होता है तो आदमी बहुत खतरनाक भी होता है। कोई खतरनाक आदमी न आ जाए इसलिए परीक्षा जरूरी थी। उपस्थित लोगों में से

बादशाह ने तीन व्यक्तियों को चुना। शेष को विदाई दे दी। बादशाह ने तीनों व्यक्तियों को सामने खड़ा कर कहा—बताओ, इत्फाक से मेरी दाड़ी में और तुम्हारी दाढ़ी में एक साथ आग लग जाए तो तुम क्या करोगे? पहला तत्काल बोल उठा—हजूर! आपकी दाढ़ी की आग तत्काल बुझा दूंगा। मेरी दाढ़ी की आग की चिन्ता ही नहीं करूंगा। दूसरा बोला—जहांपनाह! पहले मैं अपनी दाढ़ी की आग बुझाऊंगा और फिर आपकी दाढ़ी की चिन्ता करूंगा। तीसरा बोला—हजूर! एक हाथ से आपकी दाढ़ी की आग बुझाऊंगा और दूसरे हाथ से अपनी दाढ़ी की आग बुझाऊंगा।’

बादशाह ने तीनों व्यक्तियों के उत्तर सुनकर कहा—‘पहला आदमी अव्यावहारिक है। दुनिया में ऐसा कोई भी आदमी नहीं होता जो कठिन समय आने पर अपनी बात न सोचकर दूसरे की बात सोचता हो। अपनी हित-चिन्ता न कर दूसरे की हित-चिन्ता करता हो। वह व्यक्ति सर्वथा अव्यावहारिक है। जो व्यक्ति अव्यावहारिक बात करता है, वह हमेशा धोखा देता है। अज्ञानी व्यक्ति सदा अव्यावहारिक बात करता है। वह ऐसी बात करता है कि सामने वाले को लुभा लेता है, किन्तु उसे धोखा देता है।’

‘दूसरा आदमी स्वार्थी है। स्वार्थी आदमी किसी का भला नहीं करता। वह खुदगर्ज होता है। वह सदा अपनी ही बात सोचता है, अपना ही भला करता है। दूसरे की बात को वह सोच ही नहीं सकता। वह आदमी भी खतरनाक होता है।’

‘तीसरा आदमी व्यावहारिक है। वह व्यवहार की बात करता है, सचाई की बात करता है। वह न अव्यावहारिक है और न स्वार्थी। वह व्यवहार के धरातल पर जीता है।’

बादशाह ने उस तीसरे व्यक्ति को नौकरी दे दी। दोनों को विदा कर दिया।

जो आदमी अपनी भलाई करना जानता है और साथ-साथ दूसरे की भलाई करना भी जानता है वह व्यावहारिक होता है। यह व्यवहार की बात होती है। हमारी दुनिया में यही व्यवहार चलता है।

भाषा भी एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा अपनी भी भलाई हो सकती है और दूसरे की भी भलाई हो सकती है। भाषा में भलाई निष्पादन करने की शक्ति है तो उसमें बुराई करने की शक्ति भी है। दोनों ओर वह समानरूप से चलती है। भाषा में जो क्षमता है, भाषा के द्वारा जो संपादित होता है, वह न मन के द्वार होता है और न शरीर के द्वारा होता है। इसलिए भाषा का मूल्य सबसे अधिक है।

हमारे जीवन-तंत्र के तीन साधन हैं—मन, वाणी और शरीर। सबसे पहले

है मन । यह चेतना को भीतर से लाता है । उसके बाद है वाणी और फिर है शरीर । यह है जीवन की सीमा । हमारा सारा आचार और विचार इनकी सीमाओं में निर्धारित होता है । फिर चाहे आचार और विचार अच्छा हो या बुरा । कोई बुरा विचार मन में उभरा और मन तक ही सीमित रहा तो व्यवहार में वह अलाभप्रद नहीं बनता । मन में आया कि उस व्यक्ति को दो-चार लात मारूँ, चांटे जमाऊँ या उसका गला घोट दूँ । यह विचार आया, मन तक रहा तो कोई बात नहीं । आया और चला गया, भीतर प्रवेश नहीं हो सका किन्तु जब वही विचार भाषा में आ जाए तो क्या होता है, सब उसको जानते हैं । आचरण की सीमा आगे बढ़ गई । व्यवहार आगे बढ़ गया । रोष पैदा हो गया, आक्रोश पैदा हो गया और सामने वाले व्यक्ति की भृकुटि तन गई । बात यदि भाषा तक ही सीमित होती है, तो केवल तनाव की स्थिति बनती है । जब वही बात काया में उतर आती है तब स्थिति और गंभीर बन जाती है । हाथ उठ जाता है । चांटे जड़ दिए जाते हैं । लातें मार दी जाती हैं । संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है ।

मन की एक सीमा है । वाणी की एक सीमा है । शरीर की एक सीमा है । हमारे सारे आचरण और व्यवहार—इन सीमाओं में चलते हैं । इसीलिए सबसे पहला स्थान मन को दिया गया । कोई बात मन में आए, संयम करो । उसे मन तक ही सीमित रखो । मन में कोई बुरी बात न आए, अच्छी बात है । पर मन में आ जाए तो उसे मन तक रखो । बाहर मत आने दो ; यदि यह सीख लिया जाता है तो बहुत सारी समस्याओं का समाधान हो जाता है । जब आदमी इस सीमा से आगे बढ़ता है तो वह बात उसके वश में नहीं रहती, वह दुनिया की बात हो जाती है । जब तक मन की बात मन में रहती है तब तक वह व्यक्तिगत बात बनी रहती है । पर जब मन की बात भाषा में उतर आती है तब वह सामाजिक बन जाती है, वैयक्तिक नहीं रहती । व्यक्ति और समाज की यही सीमा है । जब आचरण मन की सीमा तक होता है, वह वैयक्तिक होता है । वह व्यक्तिगत सीमा है । मन से बाहर जब आचरण और व्यवहार होता है वहां व्यक्ति की सीमा समाप्त हो जाती है । वही समाज का आदि-बिन्दु बन जाता है । समाज का आरम्भ वचन से होता है । वचन की बात शरीर पर चली जाती है तो इसका और अधिक विस्तार हो जाता है । वाणी एक ऐसी शक्ति है जो एक ओर मन का प्रतिनिधित्व करती है तो दूसरी ओर शरीर को उछालती है । आदमी किसी से लड़ता है तो वाणी के द्वारा लड़ता है । आदमी किसी से प्रेम करता है तो वाणी के द्वारा करता है । आदमी किसी को अपना बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है । आदमी किसी को विरोधी बनाता है तो वाणी के द्वारा ही बनाता है । वाणी की बहुत बड़ी शक्ति है । मुंह से एक बात निकलती है और

सामने वाले व्यक्ति को जो चाहे सो बना देती है।

अंग्रेज पानी में डूब रहा था। एक भारतीय ने देखा। उसके मन में कर्षणा जागी। वह तैरना जानता था। वह पानी में कूदा और अंग्रेज को बचा लिया। तट पर आकर अंग्रेज ने कृतज्ञता का भाव प्रकट करते हुए कहा—थैक्यू। बचाने वाला अनपढ़ था। वह समझा नहीं। उसने समझा—कह रहा है फेंक दो। उसने अंग्रेज को उठाकर पुनः पानी में फेंक दिया। बोला—मैंने ही निकाला और मुझे ही कह रहा है फेंक दो। यह सारा वाणी का चमत्कार था, शब्द का चमत्कार था और कुछ नहीं। निकालने वाला भी वही था, फेंकने वाला भी वही था। कर्षणा गायब हो गई उसके मन से। मन में आक्रोश जाग गया। कर्षणा का स्थान क्रूरता ने ले लिया। अंग्रेज पानी में तड़पता रहा। वह तट पर खड़ा उसे तड़पते देखता रहा। इस दुनिया में वाणी के द्वारा क्या-क्या नहीं होता। सारा इतिहास वाणी पर आधारित है। सारा ज्ञान वाणी में निबद्ध होकर पुस्तकों में प्राप्त है। जो कुछ मिलता है, वह सारा वाणी के द्वारा मिलता है।

वाणी के साथ तीन शक्तियां काम करती हैं:

- ० एक है वाणी की अपनी शक्ति।
- ० एक है भावना की शक्ति।
- ० एक है वाणी के द्वारा पैदा होने वाली तरंग की शक्ति।

ये तीनों शक्तियां हैं। सबके पृष्ठभूमि में रहती है भावना की शक्ति। वाणी के साथ भावना का बहुत बड़ा संबंध है। जिस भावना से जो वाणी निकलती है वैसे ही कार्य होने लग जाता है और वैसी ही तरंग पैदा होने लग जाती है। भावना के बिना वाणी को समझा ही नहीं जा सकता। आदमी अपनी भावना से भी बात को पकड़ता है और कहने वाले की भावना से भी बात समझ में आ जाती है। भावना है सूक्ष्म वाणी। भावना सबसे अधिक काम करती है। जितने मनोवैज्ञानिक परिवर्तन हैं, सब भावनात्मक वाणी के द्वारा होते हैं। भावना शब्दों के माध्यम से आती है। भावना शब्दातीत नहीं होती। मन में उसका एक आकार बनता है। वह शब्द का ही आकार होता है।

एक बुढ़िया सिर पर गठरी लिए जा रही थी। एक आदमी घोड़े पर चढ़कर जा रहा था। उसने बुढ़िया को देखा। मन में दया जागी। उसने कहा—मां! मैं तुम्हारे गांव ही जा रहा हूं। लाओ, गठरी घोड़े पर रख दो। आगे मैं ठहरूंगा, वहां ले लेना। बुढ़िया ने गठरी दे दी। कुछ दूर जाकर घुड़सवार रुका। बुढ़िया भी पहुंच गई। पानी पीया। बुढ़िया बोली—भाई! अब तुम जाओ, घोड़ा भी थक गया है। गठरी दे दो। बड़ी कृपा की, इतनी दूर गठरी ले आए। घुड़सवार ने गठरी बुढ़िया

को दे दी। घुड़सवार आगे बढ़ गया। उसके मन में आया मैं भूल कर बैठा। बुढ़िया की गठरी भारी-भारी थी। उसमें कुछ माल अवश्य था। यदि मैं उस गठरी को लेकर आगे बढ़ जाता तो बुढ़िया क्या कर पाती? मैंने बड़ी मूर्खता की। आया हुआ माल व्यर्थ ही लौटा दिया। वह वहीं रुक गया। इतने में ही बुढ़िया भी धीरे-धीरे वहां पहुंच गई। घुड़सवार बोला—मां ! थक गई होगी। लाओ गठरी दो। आगे रुक जाऊंगा। बुढ़िया बोली—नहीं, अब गठरी नहीं दूंगी। जो तुम्हें कह गया, वह मुझे भी कह गया।

बुढ़िया जान गई कि अब घुड़सवार के मन में धोखा देने की भावना आ गई।

भावना की शक्ति प्रसरणशील होती है। भावना हमारी सूक्ष्म भाषा है। यह सूक्ष्म वाणी है। एक व्यक्ति के मन में जो भाव या भाषा बनती है, सामने वाले व्यक्ति के मन में उसकी प्रतिक्रिया भाषा में बन जाती है। यह ऐसा जाना-पहचाना मनोवैज्ञानिक सत्य है जिसे कोई उलट नहीं सकता। वह अन्यथा नहीं हो सकता। एक व्यक्ति किसी के बारे में अच्छे विचार करता है, अच्छी भावना करता है, सामने वाले में अपने आप अच्छे विचार आ जाते हैं, अच्छी भावना आ जाती है। बुरा विचार करता है तो सामने वाले के मन में उसके प्रति अप्रियता की भावना जाने-अनजाने पैदा हो जाती है।

वाणी की एक शक्ति है भावना और दूसरी शक्ति है उच्चारण। उच्चारण के आधार पर ही समूचे मंत्र-शास्त्र का विकास हुआ है। भावना और उच्चारण के आधार पर ही मंत्र-शक्ति का विकास होता है। तरंग का सिद्धांत भी इसके साथ जुड़ता है। आज वाणी पर आधुनिक खोजें हुई हैं, मंत्रशास्त्रीय खोजें हुई हैं। इन खोजों में तीनों शक्तियों की बात निर्णीत हुई हैं। तीनों बातें जुड़ी हुई मिलती हैं। पहली बात है भावना। दूसरी बात है उच्चारण और तीसरी बात है उच्चारण के द्वारा उत्पन्न वाणी की शक्ति। उच्चारण के साथ-साथ तरंग पैदा होती है। एक शब्द का उच्चारण होता है और अल्फा-तरंग पैदा हो जाती है। एक शब्द का उच्चारण होता है और थेटा-तरंग पैदा हो जाती हैं, बेटा तरंग पैदा हो जाती हैं। इन तरंगों के आधार पर मंत्रों की कसौटी की जाती है। 'ओम्' का उच्चारण होता है, अल्फा-तरंग पैदा होती हैं और मस्तिष्क रिलेक्स हो जाता है, शिथिल हो जाता है। जैसे-जैसे मस्तिष्क की शिथिलता बढ़ती है, अल्फा-तरंग पैदा होती चली जाती हैं। शिथिलन के लिए यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जितने भी बीज-मंत्र हैं उनसे भिन्न-भिन्न तरंगें उत्पन्न होती हैं और वे मस्तिष्क को प्रभावित करती हैं। बीजाक्षर हैं—अ, सि, आ, उ, सा, अहं, ओम्, ह्रीं, श्रीं, क्लीं। ये सारे बीजमंत्र हैं।

इनसे उत्पन्न तरंगों ग्रन्थिसंस्थान को प्रभावित करती हैं, अन्तःसावी ग्रन्थियों के स्राव को संतुलित करती हैं। ग्रन्थियों का स्राव 'इ' के उच्चारण से संतुलित हो जाता है। मस्तिष्क अस्त-व्यस्त होता है। एक शब्द का जप शुरू होता है और मस्तिष्क व्यवस्थित हो जाता है।

ध्यान के साथ-साथ जप का भी विशेष प्रयोग चल सकता है। उससे शांति की तरंगें उत्पन्न होती हैं, एकाग्रता का विकास होता है। कुछेक अक्षरों का जाप ठंडक पैदा करता है और कुछेक अक्षरों का जाप गर्मी पैदा करती है। एक हजार बार "र" का उच्चारण करें। तापमान बढ़ जाएगा। "र" बीजाक्षर है। उसके परमाणु ऐसी तरंगें पैदा करते हैं जो तापकारक होती हैं। इसी प्रकार ठंड पैदा करने वाले बीजाक्षर भी हैं। आकर्षण और वशीकरण करने वाले बीजाक्षर हैं। इनसे भिन्न-भिन्न प्रकार की तरंगें उत्पन्न होती हैं और अपना प्रभाव डालती हैं। तरंगों का प्रभाव आज छुपा हुआ नहीं है। आज यह प्रमाणित हो चुका है। हमारी सारी दुनिया तरंगों की दुनिया है। यहां जो कुछ भी हो रहा है, वह सारा तरंगों के द्वारा हो रहा है। चिन्तन की तरंग, भाषा की तरंग, शरीर से निरन्तर निकलने वाली तरंग आदि-आदि अनेक प्रकार की तरंगें हैं। यह दुनिया नाना प्रकार की ऊमियों और तरंगों से आकुल-व्याकुल है। सब कुछ तरंगमय है। तरंगातीत कुछ भी नहीं है। तरंगातीत वही हो सकता है जो भाषातीत हो जाता है, भाषा से परे चला जाता है। जो व्यक्ति भाषातीत, विकल्पातीत और चिन्तनातीत नहीं होता वह कभी तरंगातीत नहीं हो सकता।

ध्यान का प्रयोग तरंगातीत जगत् का अनुभव करने के लिए करते हैं। किन्तु तरंगों के जगत् से परे जाना, गुह्र्वाकर्षण को तोड़कर अन्तरिक्ष में जाना कोई साधारण बात नहीं है, बहुत ही कठिन बात है। मनुष्य पुरुषार्थी है। उसमें असीम मनोबल है। उसमें असीम संकल्प है। उसकी चेतना प्रबल है। उसने गुह्र्वाकर्षण को भी बेध डाला है। वह गुह्र्वाकर्षण की सीमा को पार कर अन्तरिक्ष यात्रा करने में पूर्ण सफल हुआ है। जब कोई व्यक्ति वैज्ञानिक पद्धति के आधार पर अन्तरिक्ष की यात्रा कर सकता है तो ध्यान के द्वारा तरंगातीत चेतना का अनुभव क्यों नहीं कर सकता? ऐसा संभव है। यह किया जा सकता है।

प्रश्न है वाणी की शक्ति का विकास कैसे हो? जब तक वाणी की अशुद्धि नहीं मिटती, उसके मल-दोष समाप्त नहीं होते, तब तक वाणी की शुद्धि नहीं हो सकती। उसकी अशुद्धि को मिटाने का एक उपाय है—'प्रलम्बनादाभ्यासाद् वाक्शुद्धिः'—प्रलंब नाद के अभ्यास से वाक्यशुद्धि होती है। ध्वनि प्रलंब है। मन के साथ, भावना के साथ संबंध स्थापित करने के लिए प्रलंबनाद का अभ्यास महत्त्वपूर्ण

होता है। यह उच्चारण का एक प्रकार है। उच्चारण अनेक प्रकार के होते हैं—उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि। मंत्रशास्त्र में ह्रस्वोच्चारण का एक प्रकार का लाभ होता है, दीर्घोच्चारण का दूसरे प्रकार का लाभ होता है और प्लुत उच्चारण का भिन्न प्रकार का लाभ होता है। उच्चारण जितना लम्बा होता है, ऊर्जा उसी के अनुपात में निर्मित होती है और मन के साथ उसका संबंध स्थापित होता है। अर्हम् और ओम् का लम्बा उच्चारण होता है। सामवेद में अनेक प्रकार की उच्चारण-पद्धतियों का महत्वपूर्ण उल्लेख है। उच्चारण के आधार पर एक-एक मंत्र की हजार-हजार शाखाएं हो जाती हैं।

बहुत सारे लोग जप करते हैं। वे कहते हैं, इतने वर्ष हो गए, जप से कुछ नहीं हुआ। कैसे हो? निष्पत्ति कैसे मिले? जब तक मंत्र-शब्द के उच्चारण का रहस्य हाथ में नहीं आता तब तक मंत्र अर्थवान नहीं होता, शक्तिशाली नहीं बनता। गुरु के बिना उच्चारण-भेद से होने वाले परिवर्तनों को नहीं जानता, वह दूसरों को क्या बता सकता है? एक ही शब्द उच्चारण भेद से पचासों परिणाम ला देता है। ओम् के अनेक प्रकार के उच्चारण हैं। एक प्रकार का उच्चारण एक काम करता है और उसी शब्द का दूसरे प्रकार का उच्चारण दूसरा काम करता है। उसकी प्रतिक्रिया बदल जाएगी। परिणाम बदल जाएगा।

भाषा के उच्चारण का बहुत महत्व है। मंत्रशास्त्र में शब्द के उच्चारण को प्राथमिकता दी गयी है। लाभदायी मंत्र भी गलत उच्चारण के कारण अलाभप्रद बन जाता है।

प्राचीन जैन साहित्य में उच्चारण के अनेक दोष बतलाए हैं—जं वाइब्ब वच्चाभेलियं हीणक्खरियं अच्चक्खरियं पयहीणं जोगहीणं घोसहीणं। मंत्र का उच्चारण करते समय मंत्राक्षरों को कम भी न बोलें, अधिक भी न बोलें, एक दूसरे में मिलाकर न बोलें। जहां विराम लेना हो वहां विराम लें। एक पद के दूसरे में न मिलाएं। शब्दों के योग का ध्यान रखें। घोष का पूरा विचार रखें। उचित शब्द पर उचित विराम न लेने के कारण अर्थ का अनर्थ हो जाता है। सारे अर्थ का परिवर्तन हो जाता है। जब उच्चारण के सारे दोष मिट जाते हैं तब वार्ण भी शुद्ध होती है। शब्दानुशासन का कथन है—जो शब्द का शुद्ध उच्चारण करत है वह स्वर्ग में चला जाता है, शब्द उसके लिए कामधेनु बन जाता है।

दग्धाक्षर की बात बहुत प्रचलित है। यह भी उच्चारण या रचनापद्धति का ही एक दोष है। इससे सारी भावना ही बदल जाती है। जीवन का वृत्त बदल जात है। नागौर शहर में एक सेवक रहता था। वह कविता लिखता था। एक रचना वे अन्त में उसने अपने स्थान का नाम लिखा। संयोगवश लिखते समय उसने 'नाग'

रमे' ऐसा लिख दिया। उसे लिखना था—'नागौर में' और लिख दिया 'नागो रमे' ऐसा योग बना कि वह उस रचना के बाद कुछ ही महीनों में पागल हो गया और नंगा घूमने लगा (नागो रमे' का यही अर्थ है)।

वाणी और शब्दों का संयोजन और उच्चारण हमारी भावना को प्रभावित करता है। शब्दों की शक्ति, भावना की शक्ति और उच्चारण की शक्ति—इन तीनों को समझना बहुत आवश्यक है। यही वाणी-शुद्धि की प्रक्रिया है। प्रलम्ब नाद इसी का एक संकेत है।

वाक्शुद्धि का दूसरा उपाय है—सत्य का आलंबन। उच्चारण का विवेक कर लिया, तरंगों को भी समझ लिया, किन्तु उसके पीछे भावना का जो बल है वह यदि असत् है, असत्य है तो सब कुछ बिगड़ जाएगा। यदि हम आज की समस्याओं का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उनके मूल में असत्य का बहुत बड़ा हाथ है। इसलिए सारी समस्याएं जटिल होती जा रही हैं। आप सोचेंगे, असत्य के बिना समाज का व्यवहार ही नहीं चल सकता। सारी राजनीति, कूटनीति के आधार पर चलती है। कूटनीति का आधार है—असत्य। समाज का छोटे से छोटा व्यवहार और बड़े से बड़ा व्यवहार असत्य के आधार पर चलता है। एक आदमी झूठ बोलता है, बच जाता है, सत्य बोलता है, मारा जाता है।

जज ने अपराधी से कहा—'तुम न्यायालय में खड़े हो। सच-सच कहना, झूठ मत कहना। अच्छा बताओ, झूठ बोलने से कहां जाओगे और सच बोलने से कहां जाओगे?'

'जज साहब! जानता हूं। झूठ बोलने से नरक में जाऊंगा और सच बोलने से जेल में जाऊंगा।'

आज प्रत्येक आदमी के मन में यह आस्था बैठ गई है कि समाज में सच बोलने का अर्थ है—आपदाओं को निमन्त्रण देना, कठिनाइयों में फंसना। जो झूठ बोलने में माहिर होता है वह बड़े से बड़ा अपराध करके भी बच जाता है। जो व्यक्ति वाक्-चतुर होता है, झूठ को छिपाना जानता है, वह सफल हो जाता है। जो सच बोलता है वह बुद्ध होता है, पागल होता है, मूर्ख होता है—यह आज की आस्था है इसी आस्था के कारण सारा व्यवहार गड़बड़ा गया है। हम चाहते हैं कि अन्याय मिटे, अनाचार मिटे, अत्याचार मिटे, ईमानदारी और प्रामाणिकता आये, सत्य का विकास हो। पर यह कैसे हो? मूल को ही काटा जा रहा है। मूल में ही भूल है, फिर यह सब कैसे हो?

भगवान महावीर ने सत्य का सुन्दर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—सत्य वही है जहां काया की सरलता है, भावों की सरलता है, वाणी की सरलता

है और अविसंवादिता है। अविसंवादिता का अर्थ है—विसंगतियों से परे हो जाना। एक दिन एक बात कहना और दूसरे दिन दूसरी बात कहना—यह विसंवाद है। सत्य वह होता है जो अविसंवादी होता है। दस वर्ष पूर्व जो बात कही वही बात पचास वर्ष बाद कहेगा। वाणी में विसंवादिता नहीं होगी। किन्तु आज भाव भी टेढ़ा है, वचन भी टेढ़ा है और जीवन के पग-पग पर विसंवादिता है। इस स्थिति में वाणी की शक्ति कैसे प्राप्त हो? वाक्शुद्धि कैसे हो? जिस व्यक्ति की वाक्-शुद्धि हो जाती है, उसके मुँह से निकली हुई बात को होना ही पड़ता है। वह कथन अन्यथा नहीं होता। वचनसिद्धि का सबसे बड़ा साधन है—सत्य। जो सत्यवादी होता है उसके कथन को कोई बदल नहीं सकता। उसके कथन को कोई अन्यथा नहीं कर सकता। उसकी वाणी की तरंगों में, परमाणुओं में इतनी शक्ति आ जाती है कि प्राकृतिक घटना को वैसे ही घटना पड़ता है। एक व्यक्ति में सत्य का, ब्रह्मचर्य का इतना बल होता है कि प्रकृति भी उससे प्रभावित होती है—बादल होते हैं तो बिखर जाते हैं और नहीं हो तो बन जाते हैं। ऋषिराय साधक थे। वे जब भी पदविहार करते आकाश में बादल मंडराने लग जाते। आतप मंद हो जाता। वह होता है। और भी न जाने क्या क्या घटित हो जाता है! सत्य की शक्ति असीम है। परन्तु आज बचपन से ही यह सीख दिया जाता है कि सच बोलोगे तो मारे जाओगे, झूठ बोलोगे तो बच जाओगे। जब जीवन को यह मंत्र मिलता है तब सच को प्रतिष्ठित करने का प्रश्न ही नहीं उठता। बेचारा सत्य कहां, कैसे प्रतिष्ठित हो?

वाणी-शुद्धि का दूसरा उपाय है—सत्यनिष्ठा। जिन लोगों ने सत्य की निष्ठा बनाए रखी, वे विलम्ब से भले ही हो, आगे बढ़े हैं। यदि सत्य के प्रति अटूट निष्ठा होती है तो उसका अच्छा परिणाम अवश्य आता है। प्रश्न है मूल निष्ठा का। वह बनती ही नहीं, बनने से पहले ही मर जाती है। यदि वास्तव में सत्य का प्रयोग हो तो वाणी में भी अपारशक्ति आ जाती है। इससे वचनसिद्धि होती है।

काया की शुद्धि जरूरी है। मन की शुद्धि जरूरी है। काया और मन दोनों के बीच में बैठी है हमारी सरस्वती—हमारी वाक् देवी। जब तक वाक्-शुद्धि नहीं होती तब तक काया भी टेढ़ी बनी रहती है। वह अशुद्ध बन जाती है। मन भी अशुद्ध बन जाता है। इसलिए वाक् देवी की, सरस्वती की आराधना साधक के लिए बहुत जरूरी है।

मानसिक अनुशासन के सूत्र

एक भाई आया। बहुत परेशान और चिन्तित। उसके चेहरे से परेशानी टपक रही थी। उसकी आंखों में निराशा और उदासी थी। ऐसा लग रहा था कि उसके प्राण सूखते जा रहे हैं। वह किसी गहरी चिन्ता से आकुल-व्याकुल हो रहा था। मैंने पूछा—ऐसी स्थिति क्यों? क्या किसी आर्थिक झंझट में फंस गए हो। उसने कहा—नहीं, आर्थिक कठिनाई कुछ नहीं है। बहुत संपन्न हूँ। सारी सुख-सुविधाएँ प्राप्त हैं। कोई चिन्ता नहीं है। जितना चाहता हूँ, उससे अधिक ही मिलता है।

मैंने कहा—क्या तुम पारिवारिक समस्याओं से आक्रान्त हो?

वह बोला—नहीं, सौभाग्य से मुझे ऐसा परिवार मिला है जो विरल व्यक्तियों को मिल पाता है। सभी मेरा बहुत सम्मान करते हैं। सभी मेरी आज्ञा की प्रतिक्षा करते रहते हैं। एक को बुलाता हूँ, पांच दौड़े आते हैं। परिवार की ओर से पूर्ण निश्चित हूँ। इतना ही नहीं, मेरे पास रहने वाले नौकर-चाकर भी बहुत विनीत और श्रमनिष्ठ हैं।

मैंने पूछा—तो फिर परेशानी का क्या कारण है?

उसने निश्वास छोड़ते हुए कहा—बाहर की मुझे कोई परेशानी नहीं है। मैं अपनी भीतरी परेशानी से व्यथित हूँ। भीतरी परेशानी यह है कि मेरा मन बहुत दुर्बल हो गया है। वह इतना बेचैन हो जाता है कि अकारण ही मैं सताया जाता हूँ। मन पर मेरा कोई नियन्त्रण नहीं है। प्रातःकाल एक बात सोचता हूँ, मध्याह्न में उसको भूलकर दूसरी बात सोच लेता हूँ और सायं उसे भी भूलकर तीसरी बात सोच लेता हूँ। किसी बात पर मन दृढ़ नहीं रहता। मैं समझ नहीं पाता, यह कैसी स्थिति है? जानता हूँ कि हिंसा बहुत बुरी है। मन करता है कि अब मैं अहिंसक रहूँ। परन्तु ज्योंही हिंसा की स्थिति सामने आती है, मैं हिंसा में रत हो जाता हूँ, अहिंसा को भुला देता हूँ।

सोचता हूँ, गाली नहीं दूंगा। लोग कहते हैं, गाली देना बहुत बुरा है। गाली देने से बच्चे बिगड़ जाते हैं। वे भी गालियाँ सीख लेते हैं। उन पर बुरा असर होता है। सोचता हूँ, गाली नहीं देनी चाहिए। किन्तु जब उत्तेजना का अवसर आता है तब मुंह से गाली निकल ही जाती है।

कोई कारण नहीं। प्रतिदिन बीसों घटनाएँ घटित होती हैं। सोचता हूँ ऐसा नहीं करूंगा, समय आता है और वैसा ही कर देता हूँ।

मैं समझ नहीं पा रहा हूँ कि सोचने वाला मन कोई और है और करने

वाला मन कोई दूसरा है। भीतर में ये दो बातें होती हैं। यह सब क्या है? सबसे बड़ी परेशानी यही है कि जो सोचता हूँ वह कर नहीं पाता। सब कुछ उलटा होता है। इसी से दिन-रात परेशानी में रहता हूँ।

मैंने कहा-परेशान मत बनो। यह केवल तुम्हारी ही समस्या नहीं है, पूरी मानव-जाति की समस्या है। प्रत्येक मनुष्य की यह समस्या है। मनुष्य की ही नहीं, जिस किसी प्राणी में मन का विकास है, वह इस समस्या से आक्रान्त है। दुनिया में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जो इस द्विरूप मन की समस्या का सामना न कर रहा हो। ऐसा करता है, यह ठीक है। पर प्रश्न होता है, क्या मन भी दो हैं। मन तो एक ही है। यदि मन एक है तो जिस मन से सोचा कि मैं अमुक कार्य नहीं करूँगा तो उस मन को वह काम नहीं करना चाहिए। यदि मन एक होता तो आदमी का सोचना और करना एक होता। किन्तु उसका सोचना और करना दो होते हैं इसलिए यह मानना होगा कि मन दो हैं। अब बताएं। किस मन से लड़ूँ, और किस मन का नियन्त्रण करूँ? क्या सोचने वाले मन से लड़ूँ, उस पर नियंत्रण करूँ? आदमी लड़ने की बात सोचता है, नियन्त्रण की बात सोचता है, परन्तु बहुत बार ऐसा होता है कि जिस पर नियंत्रण करना चाहता है, वह तो बच निकलता है और जिस पर नियन्त्रण नहीं होना चाहिए वह बेचारा फंस जाता है। अपराधी बच जाता है और निरपराधी पकड़ लिया जाता है।

मैंने कहा-हमारा मन बिलकुल निरपराध है। उसका कोई दोष नहीं होता। वह तो एक शक्ति है। मन एक शक्ति है, वचन एक शक्ति है और शरीर एक शक्ति है। ये तीन शक्तियाँ हैं, कार्य के साधन हैं। ये इतने सशक्त साधन हैं कि किसी भाग्यशाली को ही मिल पाते हैं। तीनों महाशक्तियाँ हैं। क्या हम इन महाशक्तियों से लड़ें? क्या इन पर नियन्त्रण करने की बात सोचें? लड़ने और नियन्त्रण करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इतना मायाजाल, इतना रहस्यवाद कि कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है कि क्या हो रहा है? मूल अपराधी पकड़ में नहीं आ रहा है और जो सामने आ जाता है, उसे ही दंडित किया जा रहा है। कुछ अपराधी का पता ही नहीं चलता। कुछ अपराधी सामने होते हैं, वे ज्ञात हो जाते हैं।

मन कोई दोष नहीं करता। वह पवित्र शक्ति है। वह हमारे तन्त्र का शक्तिशाली अवयव है। हम उसका जैसा चाहें वैसा उपयोग कर सकते हैं। किन्तु अज्ञान के कारण हम उस पर नियन्त्रण करने की बात सोचते हैं। निर्दोषी का कैसा नियन्त्रण? दोष कहीं और है। दोषी कोई और है। हमने केवल स्थूल जगत् को समझा है। स्थूल शरीर, स्थूल वाणी और स्थूल मन को समझा है। किन्तु इस स्थूल

के पीछे कितना बड़ा सूक्ष्म जगत् है, इसको समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। प्रयत्न करने पर भी समझ नहीं पाए। यदि हम अपने भीतर छिपे हुए विराट, सूक्ष्म जगत् को समझ पाते तो मन से लड़ने की बात आदमी को उपजती ही नहीं। सारा दोष सूक्ष्म जगत् से आ रहा है। सारे दोष भावना से प्रवाहित हो रहे हैं। इस स्थूल शरीर के भीतर बहुत बड़ा सूक्ष्म जगत् है। वहां से आने वाली भावना की धारा मन को काम में लेती है। मन बेचारा है नौकर। जैसा काम सौंपा जाता है, वैसा वह कर देता है। नौकर कितना ही शक्तिशाली हो, मालिक के कहने के अनुसार उसे काम करना ही पड़ता है। कभी-कभी मन को अनचाहा काम भी करना पड़ता है। दोष भावना से आ रहा है। हम वहां पहुंच नहीं पाते या पहुंचना नहीं चाहते और मन से लड़ने की बात सोचते हैं। इसका परिणाम क्या होगा? हजारों-वर्षों से या अनन्त काल से आदमी से लड़ता रहा है, पर वह आज तक उसको पराजित करने में सफल नहीं हुआ। जिन लोगों ने यह जान लिया कि मन के साथ लड़ने का प्रयास व्यर्थ है, वे भावना के स्तर पर, दोषों को सुधारने में सफल हुए हैं।

आदमी की आदत बड़ी विचित्र होती है। पड़ोसी से दुश्मनी होती है। पड़ोसी यदि शक्तिशाली होता है तो वह अपना बदला नहीं ले पाता, किन्तु वह पड़ोसी की गाय-भैंस पर लाठियों का प्रहार कर अपनी दुश्मनी का बदला लेने की कोशिश करता है। पूछने पर कहता है, पड़ोसी नहीं तो उसकी गाय-भैंस ही सही। ये पशु भी तो उसी के हैं।

हम भी वैसा ही कर रहे हैं। भावना तक पहुंच नहीं पाते तो बेचारे मन को ही दण्डित करने लग जाते हैं।

साधना करने वाले व्यक्ति को इस परेशानी से बचना चाहिए। उसे इस सचाई को समझ लेना चाहिए कि मन के साथ लड़ना व्यर्थ है। उसके साथ लड़ने की कोई जरूरत नहीं है। मन जो करे, उसे करने दो। यदि लड़ाई करनी है तो उससे करो जो मन से यह करवा रहा है। उसके साथ लड़ना व्यर्थ नहीं जाएगा। उसके साथ भी लड़ना नहीं होगा, उसका भी प्रतिरोध नहीं करना होगा, पर दूसरी पद्धति से उस पर नियन्त्रण करना होगा।

भावना, संस्कार और वृत्तियां आती हैं और बेचारे मन पर चित्र बनाकर चली जाती हैं। मन कोरा कागज है, और कुछ भी नहीं।

चित्रकारिता की परीक्षा हो रही थी। दस-दस, बारह-बारह वर्ष के बच्चे परीक्षार्थी थे। उनको तीन चित्र बनाने थे। एक चूहे का, दूसरा बिल्ली का और तीसरा कुत्ते का। विद्यार्थियों ने तन्मयता के साथ चित्र बनाए, उनमें रंग भरे। परीक्षा का समय समाप्त हुआ। चित्रकार अध्यापक एक-एक विद्यार्थी के चित्रों को

परीक्षण कर उनको नम्बर दे रहा था। एक विद्यार्थी ने कोरा कागज अध्यापक के हाथ में दे दिया। अध्यापक ने चिढ़ते हुए कहा—यह क्या! अभी तक एक भी चित्र नहीं बना पाए?

विद्यार्थी बोला—मैंने तीनों चित्र बनाए थे।

कहां है चित्र ? पृष्ठ खाली पड़ा है—अध्यापक ने कहा।

विद्यार्थी बोला—चूहा बनाया था किन्तु बिल्ली उसे खा गई।

अरे, बिल्ली कहां है?

कुत्ता बिल्ली को खा गया।

अच्छा, तो बताओ, कुत्ता कहां गया?

एक बिल्ली से उसका पेट नहीं भरा तो वह दूसरी बिल्ली की खोज में चला गया। तीनों चले गए। मेरा कागज कोरा ही रह गया।

यह मन कोरा कागज है। भीतर में बैठा कोई विद्यार्थी उस पर चूहे का चित्र बनाता है तो फिर बिल्ली आ जाती है, और बिल्ली का बनाता है तो कुत्ता आ जाता है और कुत्ता भी अधिक समय तक नहीं टिक पाता। वह भी किसी की खोज में चला जाता है। मन कोरा ही रह जाता है। चित्र बनते जाते हैं और मिटते जाते हैं। हजारों चित्र बनते हैं और चले जाते हैं। वह अन्त में रहता है कोरा का कोरा। ऐसी स्थिति में उस पर चित्र बनाने का अर्थ ही क्या होता है? उससे लड़ने का प्रयोजन ही क्या है? जिस पर कुछ भी टिके नहीं, उससे क्यों लड़ा जाए? हमें उससे लड़ना है जहां से ये सारे चित्र उभर रहे हैं। कल्पना और स्मृतियों के चित्र, भावनाओं के चित्र, भलाई और बुराई के चित्र—ये सारे चित्र भीतर से आ रहे हैं। साधना करने वाले व्यक्ति को परेशानी इसलिए नहीं होती कि वह स्थूल जगत् की सीमा में नहीं जीता।

लोग पूछते हैं, जानना चाहते हैं कि क्या हमारा भी कोई सूक्ष्म जगत् है? क्या हमारा कोई सूक्ष्म अस्तित्व है? क्या इस दुनिया से परे भी कोई दुनिया है? क्या मरने के बाद भी कुछ अस्तित्व रहता है?

मरने की बात क्यों सोचते हो? दूर जाने की कोई जरूरत नहीं है। तुम्हारे भीतर बहुत बड़ी दुनिया है। मरने के बाद क्या होगा यह प्रश्न और इसका उत्तर भी तुम्हारे भीतर लिखा हुआ है। तुम भीतर की दुनिया को देखो, सारे प्रश्न समाप्त हो जायेंगे। आत्मा और परमात्मा के प्रश्न, पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के प्रश्न उन लोगों ने पूछे जो स्थूल शरीर की सीमा पर सिमटे रहे। जिन लोगों ने स्थूल शरीर की सीमा को पार कर दिया उनके लिए ये प्रश्न समाहित हो जाते हैं। आत्मा और परमात्मा को जानने का उपाय स्थूल शरीर और मस्तिष्क में नहीं है। यह उपाय शरीर और मस्तिष्क की सीमा से परे है। जिसने इस सीमा को पार कर

लिया, उसने सब कुछ जान लिया। सीमा में आबद्ध व्यक्ति हजारों-हजारों उपायों से भी उन्हें नहीं जान पाता। आवश्यकता है, हम अपनी वृत्तियों और संस्कारों तक पहुंचें, आस्रवों तक पहुंचें। हमारे भीतर आस्रव हैं, झरने हैं। वे निरन्तर बह रहे हैं। वे इतने बड़े स्रोत हैं, झरने हैं कि कभी सूखते ही नहीं। मिथ्यादृष्टि का झरना है, आस्रव है जो सभी झरनों को पानी सप्लाई करता है। एक आस्रव है—अविरति। महान आस्रव और विशाल झरना। इसके कारण नई-नई आकांक्षाएं पैदा हो रही हैं और मन को वह आकांक्षा का पानी निरन्तर मिल रहा है। उस पानी से वह सदा हरा-भरा रहता है। प्रमाद का एक झरना है। वह भी छोटा नहीं है, बहुत बड़ा है। इसके कारण आदमी सोता रहता है, जागता ही नहीं। यह महानिद्रा कभी मिटती ही नहीं। यह स्थूल शरीर बेचारा दिन में सात-आठ घण्टे सोता होगा, किन्तु प्रमाद की नींद चौबीस घंटा बनी की बनी रहती है। नींद टूटते ही नहीं, आंखें खुलती ही नहीं। कषाय का आस्रव, झरना भी विशाल है। उसका प्रवाह चारों दिशाओं में फैलता है। अहंकार, कपट, लालच, घृणा, ईर्ष्या, राग-द्वेष, प्रियता-अप्रियता उसके उपजीवी छोटे-छोटे झरने हैं। ये विविध प्रकार के झरने भीतर में बह रहे हैं। सब झरनों का पानी बेचारे मन पर गिरता है और वहां से दूसरों तक पहुंचता है। जो कुछ आता है इस पानी के साथ बहता हुआ आता है। चंचलता भी इसी पानी के साथ आती है। यह पानी सारी गंदगियों को एकत्रित कर लाता है और बेचारे मन की धारा से, मन की प्रणालिका से होकर गुजरता है। लोगों को यह भीतर के झरने दिखाई नहीं देते। मन की नाली, मन की प्रणालिका सबको दिखाई देती है, और लोग सोचते हैं कि यह सारी गन्दगी मन से ही आ रही है। बेचारे मन को दोषी होना पड़ता है, उसकी नलिका को दोषी होना पड़ता है। नाली का अपराध ही क्या है? नगर में बहने वाली गंदी नालियों का अपराध क्या है? उनमें गन्दगी कहां से आती है? क्या नाली गन्दगी को पैदा करती है? नहीं, गन्दगी आती है घरों से, फ़ैक्टरियों से और अन्यान्य औद्योगिक संस्थानों से। परन्तु 'गन्दी' का विश्लेषण नाली के साथ ही जुड़ता है। अरे, नाली गंदी कैसी? वह तो साफ है। जहां से गंदगी आती है, उसका उपचार हम नहीं जानते। हम नाली को साफ करने में ही विश्वास करते हैं। वह साफ होती ही नहीं। गंदगी का स्रोत ऊपर से निरन्तर बह रहा है। जब तक उसकी सफाई या उसका निरोध नहीं होगा, गन्दगी कभी मिटेगी नहीं। हम लोग हमेशा नाली को साफ करने की बात सोचते जा रहे हैं और समस्या से परेशान होते जा रहे हैं। इस प्रकार समस्या का समाधान नहीं होगा। आगे से सफाई करते रहें और पीछे से गन्दगी का प्रवाह सतत चालू रहे तो उस सफाई का कोई अर्थ नहीं होगा, सफाई व्यर्थ होगी। यदि हम वास्तव में चाहते हैं कि सफाई हो तो सफाई वहीं करनी होगी जहां से गन्दगी आ रही है।

प्रश्न है—कैसे करें? क्या करें? सबसे सरल उपाय है, गन्दगी के उन झरनों को बंद कर देना होगा। आस्रवों का संवर करना होगा। इसमें मन का सहारा ले सकते हैं। इससे मन की शुद्धि हो सकती है।

झरनों को सुखाना सबसे पहला उपाय है।

दूसरा उपाय होगा—मन की नाली को बन्द कर देना जिससे कि भीतर से जो आए, वह उसे स्वीकार न करे, सम्बन्ध कट हो जाए। ये दोनों उपाय चलें तो हमारी परेशानी का अन्त होगा और यह प्रश्न भी समाहित हो जाएगा कि सोचता कुछ हूँ और होता कुछ है, यह क्यों? आदमी फिर यह शिकायत कभी नहीं करेगा कि प्रातः एक बात सोचता हूँ, मध्याह्न में दूसरा बात सोचता हूँ और शाम को तीसरी बात सोचता हूँ और करता कुछ और ही हूँ। यह सब कैसे हो? पहले हम बाहर से चलें। पहले ही हम भीतर के झरनों से सम्बन्ध-विच्छेद कर दें। घरों से सम्बन्ध ही तोड़ दें, जिससे घरों की गन्दगी इन नालियों तक पहुंचे ही नहीं। इसका उपाय यही है। दुनिया में कोई बात निरुपाय नहीं होती।

मन को शुद्ध और स्वच्छ करने का उपाय है—संकल्प की दृढ़ता और एकाग्रता। गंदगी आते-आते यह नाली इतनी गंदी बन गयी, इतनी जर्जरित हो गई कि उसकी शक्ति द्वीण हो गई। उसकी ताकत को बढ़ाने का एकमात्र उपाय है—संकल्प को दृढ़ बनाना। मन कल्पनाशील है। वह बहुत कल्पना करता है। वह निरन्तर कल्पना करता ही रहता है। परन्तु कोई कल्पना टिकती नहीं। आती है और चली जाती है। क्योंकि कल्पना करने वाले मन की शक्ति क्षीण हो गई। आदमी बाहर से भी प्रभावित होता है और भीतर से भी प्रभावित होता है। हमारी सारी दुनिया प्रभावों की दुनिया है। कहीं कभी तूफान आता है, बवण्डर उठता है; आंधी आती है। यह केवल हमारी पृथ्वी की घटना नहीं है। आज के वैज्ञानिक, पुराने ज्योतिषी, खगोलशास्त्री और आकाशीय-पिण्डों का अध्ययन करने वाले महामनीषी व्यक्ति इस सचार्ई को जानते हैं कि दूसरे ग्रहों में घटना घटती है तब पृथ्वी पर आंधियां, भयंकर तूफान आते हैं। वहां की प्रतिक्रिया यहां होती है। अकाल होता है, अवृष्टि और अतिवृष्टि होती है—ये भी पृथ्वी की घटनाएं नहीं हैं। इनके साथ भी आकाशीय घटनाएं जुड़ी होती हैं। हमारी समूची पृथ्वी न जाने कितने आकाशीय पिण्डों का प्रभावित क्षेत्र है! वहां के विकिरण, वहां की रश्मियां यहां आती हैं और प्रभाव डालती हैं। कुछ वर्षों पूर्व एक बार राजस्थान में बहुत वर्षा हुई। लोगों ने अनुमान लगाया कि अभी-अभी राजस्थान में अणु-विस्फोट किया गया है, उसी का परिणाम है। किन्तु सचार्ई यह नहीं थी। सचार्ई यह थी कि उस वर्ष सूर्य में कुछ विस्फोट हुए थे। उसकी कुछ विशेष स्थिति बनी थी, इसलिए यहां अतिवृष्टि

हुई थी। हमारी यह पृथ्वी आकाशीय चुम्बकीय तत्वों से जुड़ी हुई है। हमारा मन भी आकाशीय और पृथ्वी के चुम्बकीय तत्वों से जुड़ा हुआ है। न जाने कितने चुम्बक हमें खींच रहे हैं। न जाने कितने आकर्षण आ रहे हैं।

डॉक्टर नैवद्य ने अध्ययन किया कि मनुष्य के मन पर चन्द्रमा का क्या प्रभाव होता है? ज्योतिष के अनुसार मन की स्थिति भी वैसी ही होगी। इसलिए सम्भवतः यह कहावत चल पड़ी कि 'अपना-अपना चन्द्रमा देखो।' दूज का चांद और पूनम का चांद मन को बहुत प्रभावित करता है। उस डाक्टर ने और भी अनेक तथ्य खोज निकाले। उन तथ्यों के आधार पर यह सारी बात समझ में आ जाती है। अष्टमी के उपवास की प्रथा क्यों चली? चतुर्दशी, पूर्णिमा और अमावस्या को उपवास और पौषध करने की प्रथा क्यों चल पड़ी? इसकी व्याख्या हमारे पास नहीं है। किन्तु डाक्टर नैवद्य ने यह बात स्थापित की कि इन दिनों में चन्द्रमा समुद्र में तूफान लाने वाला होता है, और वह मन में भी तूफान लाता है। यदि इन दिनों में उपवास किया जाता है, धर्म-जागरिका की जाती है तो तूफान मिट जाते हैं और मन शांत रहता है।

यह प्रमाणित हो चुका है कि हमारा मन बाहरी स्थितियों से प्रभावित होता है। वह केवल चन्द्रमा से ही प्रभावित नहीं होता, अनेक घटनाओं तथा व्यक्तियों से भी प्रभावित होता है। मन बहुत ही ग्रहणशील है। बाहर से हर घटना को लेता है और प्रभावित हो जाता है। किसी ने गाली दी, किसी ने प्रशंसा की तो तत्काल प्रभावित हो जाता है। यह तो बाहर के प्रभाव की बात है। भीतर में न जाने कितना-क्या भरा है! बहुत भरा हुआ है।

पिता ने कहा-बेटा! बाजार में जाओ और भूसा ले आओ। वह बोला-पिताजी! बाजार में जाने की क्या जरूरत है? स्कूल में मास्टर जी कह रहे थे-तुम्हारे दिमाग में तो बहुत भूसा भरा है। पिताजी! आप उसी को काम में ले लें। बाहर से क्यों मंगा रहे हैं?

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर बहुत कुछ भरा है। उसका अन्त ही नहीं है। मन को प्रभावित करने वाले झरने भीतर में इतने हैं कि उनकी गणना मुश्किल होती है। बाहर और भीतर के प्रभावों से मन को बचाना, उसे स्वच्छ रखना, बहुत बड़ी समस्या है। दोनों से निपटना सरल, सहज नहीं है। साधक को इस दोहरी समस्या का सामना करना ही पड़ेगा, अन्यथा मनःशुद्धि असंभव है। और कोई उपाय नहीं है।

मनःशुद्धि के दो उपाय बतलाए हैं-संकल्प की दृढ़ता और एकाग्रता का अभ्यास। आदमी का संकल्प नहीं होता अतः वह अपने कार्य में सफल भी नहीं होता। वह कल्पना करता रहता है। कल्पना का कहीं अन्त नहीं आता। कल्पना

को संकल्प में बदल दो। वह इतनी शक्तिशाली बन जाए कि वह कवच बन जाए, वज्र-पंजर बन जाए। इतना होने पर न बाहर का प्रभाव पड़ सकता है और न भीतर का प्रभाव पड़ सकता है। दोनों प्रभाव आते हैं, परस्पर टकरा कर चले जाते हैं। अपना प्रभाव नहीं दे पाते। जब कवच और वज्रपंजर का निर्माण हो जाता है तब भीतरी शक्तियों का या बाहरी शक्तियों का कितना ही आक्रमण हो, भीतर में कुछ भी प्रभाव नहीं हो सकता।

प्रश्न होता है कि संकल्प को दृढ़ बनाने का उपाय क्या है? इसका उत्तर है कि एकाग्रता के अभ्यास से संकल्प दृढ़ बनता है। जैसे-जैसे एकाग्रता की शक्ति का विकास होता है, संकल्प-शक्ति दृढ़ होती जाती है।

श्वास-प्रेक्षा एकाग्रता का अभ्यास है। जिसने श्वास को देखना प्रारंभ कर दिया, उसने मन की शुद्धि का क्रम शुरू कर दिया।

हम लड़ना नहीं जानते। लड़ने की हमारी पद्धति दूसरी है। दुनिया में ऐसा एक भी व्यक्ति नहीं है जिसके मन में विकल्प न आए, बुरे विचार न आए, चंचलता या अशुद्धि न आए। बुरे विचार या विकल्प आते ही साधक निराश हो जाता है और सोचता है, यह क्या? इतने दिनों तक अभ्यास किया, कुछ भी फल नहीं मिला। आठ-दस दिन हो गए, दो-चार महीने या वर्ष दो वर्ष हो गए ध्यान करते-करते, पर विकल्पों का तांता टूटता ही नहीं, वैसे ही उनका प्रवाह चल रहा है। लगता है, ध्यान धोखा है। इसमें कोई सार नहीं है। आज से ध्यान को तिलांजलि देता हूँ।

आगे बढ़ने का या विकल्प से छुटकारा पाने का यह निराशायुक्त विचार उपयुक्त नहीं है। जब तक भीतर का खजाना पूरा खाली नहीं हो जाएगा तब तक विकल्पों का तांता कैसे टूट सकता है? इतने बड़े भंडार को खाली होने में एक-दो वर्ष तो क्या, अनेक वर्ष लग सकते हैं। किसी व्यक्ति का भंडार यदि कम भरा है तो खाली होने में अधिक समय नहीं लग सकता।

बुरे विचारों या विकल्पों से छुट्टी पाने का एकमात्र-मार्ग है-ध्यान। जो व्याक्त एकाग्रता का अभ्यास करता है। उसमें इतना अन्तर जरूर आ जाता है कि वह आने वाले विकल्पों में उलझता नहीं। विचार या विकल्प आते हैं, वह द्रष्टाभाव से उन्हें देखता है। वे चले जाते हैं। बुरे विचार आए तो आने दें, प्रारम्भ में उन्हें रोकें नहीं। चित्त को श्वास पर टिका दें। श्वास को देखने लग जाएं। इधर बुरा विचार चल रहा है, उधर श्वास-दर्शन चल रहा है। प्रारम्भ में बुरा विचार शक्तिशाली होगा, श्वास-दर्शन कमजोर होगा। जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ेगा, द्रष्टाभाव का विकास होगा तब विचार-शून्यता की स्थिति प्राप्त हो जाएगी। बुरे विचार

राक्षसों के सदृश हैं। इन राक्षसों के साथ लड़ने से शक्ति क्षीण होगी। इन राक्षसों और प्रेतों को आने दें। उनका विरोध न करें। आप अपना काम करते रहें। एक दिन ऐसा आएगा कि बुरे विचार या विकल्प रूपी राक्षसों की शक्ति क्षीण हो जाएगी और वे बेचारे शक्ति-शून्यता का अनुभव करने लग जाएंगे। इस प्रक्रिया में श्वास-दर्शन शक्तिशाली होता जाएगा। वे राक्षस मर जायेंगे और श्वास-दर्शन चिरंजीवी बनता जाएगा।

हमें श्वास-दर्शन की प्रक्रिया को भी सही संदर्भ में समझना होगा। गलत-विधि निराशा पैदा करती है। विधि-पूर्वक यदि श्वास-दर्शन, चैतन्य-केन्द्र दर्शन, शरीरदर्शन किया जाए तो एकाग्रता पुष्ट होती जाती है और तब भी भीतर में उभरने वाली वृत्तियां, चंचलता, बुरे विचार, बुरे भाव इन सब की शक्ति क्षीण हो जाती है और हमारी विधायक शक्ति का विकास होता है और ऋणात्मक या निषेधात्मक शक्ति कमजोर हो जाती है। आप देखें, मन सबके पास है। फिर भी एक व्यक्ति अच्छा और एक व्यक्ति बुरा, यह क्यों? एक घंटा हम अच्छे विचार करते हैं और एक घंटा बुरे विचार करते हैं, यह क्यों? यह अन्तर क्यों? काल और व्यक्ति का यह अन्तर सूचित करता है कि मन का कोई दोष नहीं है। हमने मन को भयप्रूफ नहीं बनाया। उसके संकल्प और एकाग्रता को हमने पुष्ट नहीं किया। उसकी शक्ति का विकास नहीं किया। साधना के तीन बल हैं—मन का बल, वचन का बल और शरीर का बल। जैसे-जैसे मन का बल बढ़ता है, शक्तियां विकसित होती जाती हैं और बाहर का प्रभाव कम होता जाता है। एकाग्रता और संकल्प-शक्ति का विकास होने पर—

- पुरानी आदतें बदलती हैं, नई आदतों का निर्माण होता है।
- पुरानी आस्थाएं बदलती हैं, नई आस्थाएं जन्म लेती हैं।
- पुराने संस्कार छूटते हैं, नए संस्कार निर्मित होते हैं।

जैसे-जैसे संकल्प-शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे एकाग्रता का विकास होता है या जैसे-जैसे एकाग्रता बढ़ती है, वैसे-वैसे संकल्प-शक्ति का विकास होता है। जैसे-जैसे संकल्प शक्ति बढ़ती है, वैसे-वैसे मन की शक्ति का विकास होता है। मन तब पूर्ण सुरक्षित हो जाता है उसका कवच वज्रमय बन जाता है, कोई उसे तोड़ नहीं सकता। तब बाहर से भी मन को प्रभावित नहीं किया जा सकता और भीतर से भी उसको प्रभावित नहीं किया जा सकता। मन उन भीतरी झरनों को कह देता है—अपना पानी और कहीं से बहायें। अब मैं आपके पानी को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं हूँ। बाहर के निमित्तों को भी वह अस्वीकृति दे देता है। तब वह निश्चिन्त होकर अपना काम करने लग जाता है और साधक चैतन्य के महासागर में डुबकियां लेते-लेते नहीं अघाता।

सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से

एक विद्यार्थी ने कहा—मैं स्मृति का विकास करना चाहता हूं, एकाग्रता का विकास करना चाहता हूं और अपनी कुछेक आदतों को बदलना चाहता हूं। क्या यह संभव है?

मैंने कहा—इस दुनिया में असंभव भी कुछ नहीं है और संभव भी कुछ नहीं है। दोनों सापेक्ष कथन हैं। हर बात संभव बन सकती है और हर बात असंभव बन सकती है।

उसने कहा—मुझे बताएं कि क्या मेरे लिये ये सब संभव है?

मैंने पूछा—तुम यहां कितने दिन रहना चाहते हो?

उसने कहा—आधे घण्टा का समय है। इससे अधिक समय नहीं है।

मैंने कहा—तब सब असंभव है। यह बुद्धि का लेखा-जोखा नहीं है कि एक प्रश्न पूछा, उत्तर दिया, समाधान मिला या न मिलने पर तर्क आगे बढ़ा और वह बढ़ता ही चला गया। यदि बुद्धि के स्तर पर इन प्रश्नों का तुम समाधान चाहते हो तो मैं कहूंगा कि सब असंभव है। यदि तुम प्रयोग के आधार पर कुछ करना चाहते हो, समय लगाना चाहते हो तो तीनों बातें संभव हैं।

हमारे समाने सबसे बड़ा आयाम है—बुद्धि का। हमने बुद्धि को इतना अतिरिक्त मूल्य दे दिया है कि हम मानने लग गए—इस संसार में बुद्धि से बढ़कर और कुछ भी नहीं है। वास्तव में बुद्धि का इतना महत्त्व नहीं है, इतना बड़ा स्थान नहीं है। किन्तु जब छोटे को बड़ा स्थान दे दिया जाता है और बड़े को छोटा स्थान दे दिया जाता है तो वहां नाना प्रकार की समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। यदि हम आज की समस्याओं का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि अनेक समस्याओं का जन्म इसलिए हुआ है कि हमने बुद्धि को अतिरिक्त मूल्य दिया है।

आज का आदमी बदलना भी बुद्धि के स्तर पर चाहता है। वह स्मृति का विकास भी बुद्धि के स्तर पर चाहता है और एकाग्रता का विकास भी बुद्धि के स्तर पर चाहता है। प्रयोग के स्तर पर जो घटित हो सकता है, उसे बुद्धि के स्तर पर कैसे घटित किया जा सकता है? यह बिलकुल असंभव बात है। बुद्धि का काम है विश्लेषण करना, निर्णय करना, तर्क करना और संदेह करना। जहां कहीं बुद्धि का व्यायाम होगा, वहां सबसे पहले संदेह होगा—यह क्यों हो रहा है? ऐसा क्यों कहा जा रहा है? क्या रहस्य है? बुद्धि हो और संदेह न हो, यह असंभव है। बुद्धि को संदेह करना ही होता है। कोई भी राजनीतिज्ञ व्यक्ति सामने वाले व्यक्ति की बात पर

संदेह न करे तो वह कुशल राजनीतिज्ञ नहीं कहला सकता। वह कुशल कूटनीतिज्ञ नहीं हो सकता। कूटनीतिज्ञ की कुशलता इसी में है कि वह प्रत्येक बात को संदेह की दृष्टि से देखे, किसी पर भरोसा न करे और यह बात जनता के गले उतार सके कि विरोधीपक्ष वालों की बातें निराधार हैं, झूठी हैं। उनके शब्दकोश में 'विश्वास' शब्द होता ही नहीं।

पिता-पुत्र नीचे खड़े थे। पिता ने कहा-बच्चे! छत पर जाओ। बच्चा उछलता-कूदता छत पर चढ़ा। पिता ने कहा-बेटे! छत से कूदो, मैं अपने हाथों पर तुम्हें झेल लूंगा। बेटा बोला-पिताजी! कहीं जमीन पर गिर पड़ा तो चोट लगेगी, कूदने में भय लगता है। पिता बोला-बेटे! डर मत। मैं नीचे नहीं गिरने दूंगा। हाथों में थाम लूंगा। तुम भय को मन से निकाल दो। बच्चे ने पिता पर विश्वास कर छलांग लगा दी। पिता ने पहले से ही हाथ पसार रखे थे। ज्योंहि बच्चे ने छलांग लगाई पिता ने हाथ समेट लिए। बच्चा धड़ाम से जमीन पर गिरा। चोट आई, पर वह बच गया। बच्चे ने रोते हुए कहा-पिताजी! यह आपने क्या किया? पिता ने कहा-बेटे! मैं तुम्हें एक महत्त्वपूर्ण सीख देना चाहता था, वह आज मैंने तुम्हें दे दी। तुम नहीं जान सके। मैं यह सीख देना चाहता था कि यह दुनिया बड़ी विचित्र है। इसमें भरोसा अपने बाप का भी नहीं करना चाहिए।

यह दुनिया व्यवहार पर चलने वाली दुनिया है। यह बुद्धि के स्तर पर चलने वाली दुनिया है, जहां यह पाठ पढ़ाना आवश्यक हो जाता है कि भरोसा बाप का भी नहीं करना चाहिए।

बुद्धि का काम है संदेह पैदा करना। संदेह के बाद तर्क पैदा होता है। संदेह बुरा नहीं है। तर्क भी बुरा नहीं है। ये बुरे कैसे हो सकते हैं? जब हमें बुद्धि की दुनिया में जीना है तो संदेह करना होगा। यदि यहां संदेह नहीं करेंगे तो बहुत बड़ा धोखा हो सकता है और तर्क न हो तो भी धोखा हो सकता है। तर्क बहुत बड़ा आधार है। इस आलम्बन के द्वारा व्यक्ति अनेक समस्याओं से पार पा जाता है। यदि तर्क न हो तो सभी न्यायालय बन्द हो जाएंगे। न्यायालयों का सारा काम तर्क के आधार पर चलता है। जिसका तर्क बलवान होता है वह झूठ होने पर भी जीत जाता है और जिसका तर्क लचीला होता है वह सच्चा होने पर भी हार जाता है। न्यायालय का आधार है तर्क, तर्क और तर्क। यदि तर्क न हो तो न्यायालयों के दरवाजे बन्द हो जाएंगे। विभिन्न सम्प्रदायों का अस्तित्व तर्क के आधार पर ही टिका हुआ है। आत्मा है या नहीं-यह तर्क के आधार पर चल रहा है। आज से नहीं, हजारों-हजारों वर्षों से आत्मा को सिद्ध करने के लिए तर्क दिए जा रहे हैं और आत्मा के अस्तित्व को नकारने के लिए भी तर्क दिए जाते हैं। एक वर्ग आत्मा

को सिद्ध करने के लिए दरवाजा खटखटा रहा है तो दूसरा वर्ग उसी निष्ठा और पराक्रम से आत्मा को असिद्ध करने के लिए दरवाजा खटखटा रहा है। यह चल रहा है और बुद्धि के साम्राज्य में यह अनन्त काल तक चलता रहेगा। यदि तर्क न हो तो सम्प्रदाय टिक नहीं सकते। यदि तर्क न हो तो संघर्ष और लड़ाइयां चल नहीं सकतीं। लड़ाइयों का चलना जरूरी होता है। समाज हो और लड़ाई न हो तो वह कैसा समाज! लड़ाइयों के आधार पर बहुत सारे निकम्मे लोग भी काम के बन जाते हैं। वे लड़ाई के काम में लग जाते हैं। बहुत सारे लोग लड़ाइयों के आधार पर अपनी जीविका चला रहे हैं। दो व्यक्तियों को आपस में भिड़ा देते हैं और अपनी जीविका कमा लेते हैं। कुछ लोग कहते हैं—इन दो की लड़ाई मिट सकती है, पर बिचौले मिटाना नहीं चाहते। अगर मिट जाए तो उनकी रोजी-रोटी बन्द हो जाए। इस आधार पर हजारों वकील बेकार हो जाते हैं। यह सारा तर्क का चमत्कार है। इसे हम बेकार कैसे मानें?

बुद्धि का क्रीड़ा-प्रांगण बहुत विशाल है। जितने खिलाड़ी ओलम्पिक में इकट्ठे नहीं होते उनसे हजार गुना खिलाड़ी बुद्धि के क्रीड़ा-प्रांगण में एकत्रित होते हैं और खेल खेलते हैं।

एक होता है गुरु और एक होता है शिष्य। शिष्य गुरु का होता है। गुरु को स्वीकार करना दुनिया का सबसे बड़ा स्वीकार है। मनुष्य अपने माता-पिता और पत्नी की बात को ठुकरा सकता है, किन्तु गुरु की बात को ठुकराना नहीं चाहता। गुरु देवता होता है। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और भगवान कहा गया। गुरु को सब कुछ कहा गया। ऐसी स्थिति में उनकी बात को कैसे ठुकराया जा सकता है? परन्तु जब तर्क बीच में आता है तब आदमी गुरु की बात को भी ठुकरा देता है।

एक कहानी है।

गुरु और शिष्य दोनों सो रहे थे। वर्षा का मौसम था। गुरु ने करवट बदलकर शिष्य से कहा—बाहर जाकर देखो कि वर्षा आ रही है या रुक गई है? शिष्य आलसी थी। उठने की इच्छा नहीं थी। उसने तर्क का प्रयोग करते हुए कहा—गुरुदेव! अभी-अभी यह कुत्ता बाहर से आया है। आप इसके शरीर पर हाथ फेर कर देख लें। यदि इसका शरीर भीगा हुआ है तो वर्षा आ रही है, यदि वह सूखा हो तो वर्षा बन्द हो गई है। सरल उपाय है।

थोड़ी देर बाद गुरु ने कहा—शिष्य रात बहुत चली गई है। नींद नहीं ले पा रहा हूँ। दीये का प्रकाश सीधा मुंह पर पड़ रहा है। उठो, दीये को बुझा दो। शिष्य बोला—गुरुदेव! दीया क्यों बुझाएं, आप अपने मुंह पर कपड़ा ओढ़ ले, प्रकाश नहीं दिखेगा, नींद आ जाएगी।

कुछ समय बीता, हवा तेज चलने लगी। गुरु ने कहा—‘अरे’ उठकर दरवाजा बन्द कर दो। सर्दी के मारे ठिठुर रहा हूँ।’ शिष्य ने सोते-सोते ही कहा—गुरुदेव ! मैं दरवाजे से बहुत दूर सोया हुआ हूँ। आप पास में ही हैं। पैरों से धक्का दें, दरवाजे बन्द हो जाएंगे। गुरु ने वैसा ही किया। पर तेज हवा से फिर दरवाजे खुलने लगे। गुरु ने कहा—शिष्य! अब उठकर दरवाजे के आगल लगा दो। शिष्य तड़ाक से बोला—तीन काम मैंने कर दिए तो एक काम आप ही कर दें।

जब तर्क बीच में आता है तब गुरु और शिष्य की बात भी कहीं रह जाती है। सचमुच एक बहुत बड़ा प्रश्न है। हम स्वयं आत्म-विश्लेषण करें कि हमारे जीवन में हर क्षण तर्क आड़े रहता है। जहां तर्क आता है वहां समस्या उलझ जाती है। तर्क के द्वारा सम्भवतः पांच प्रतिशत समस्याएं सुलझ सकती हैं, पर पचानवें प्रतिशत समस्याएं और अधिक उलझ जाती हैं। वह गांठ घुलती जाती है। वह रेशम की गांठ बन जाती है, जो खोलने पर भी नहीं खुलती।

मैंने उस भाई से कहा—तुम तर्क के आधार पर यदि वह काम करना चाहते हो तो वह असंभव है। प्रयोग के स्तर पर आओ, अनुभव के स्तर पर उतरो, वह बात संभव हो जाएगी।

आदमी बदलना चाहता है, सुधरना चाहता है, विकास करना चाहता है, पर यह सब प्रयोग किए बिना नहीं हो सकता। ध्यान का जीवन प्रयोग का जीवन है। कोई व्यक्ति यदि बुद्धि के स्तर पर उसे समझना चाहे तो वह कभी नहीं समझ सकेगा। आज तक जिस किसी व्यक्ति ने ध्यान को समझा है, उसे प्रयोग के आधार पर ही समझा है, ज्ञान के आधार पर नहीं, विवेचना के आधार पर नहीं। शिविरार्थिनी एक बहिन ने अभी-अभी कहा—मैंने जीवन में यह कल्पना कभी नहीं की थी कि ऐसा आनन्दमय जीवन भी जीया जा सकता है। जीवन का ऐसा आनन्दमय पक्ष भी है। पर मैंने प्रयोग किया और उसका प्रत्यक्षतः अनुभव कर लिया। मैं पूछना चाहता हूँ, क्या तर्क के आधार पर यह बात समझी जा सकती है? एक भाई ने कहा—मैंने यह कभी नहीं समझा था कि मेरा इतना चंचल चित्त भी कभी एकाग्र हो सकता है। क्या यह बात तर्क के आधार पर समझी जा सकती है, समझाई जा सकती है! कभी नहीं समझी जा सकती। इसको केवल प्रयोग के स्तर पर या अनुभव के स्तर ही समझा जा सकता है।

अपने आपको बदलने का, व्यक्तित्व के रूपान्तरण का और आदतों के परिवर्तन का सबसे बड़ा उपाय है अनुभव के जगत् में प्रवेश पाना। यह अनुभव का जगत् ही ध्यान का जगत् है और यह ध्यान का जगत् ही अनुभव का जगत् है।

आदमी क्यों बिगड़ता है, क्यों सुधरता है—इस पर भी हम विमर्श करें।

बिगड़ने के कारण भी भीतर मौजूद हैं और सुधरने के हेतु भी भीतर में होता है। आदमी बुरा होता है भीतर के कारणों से और अच्छा भी होता है भीतर के कारणों से। बाहरी कारणों से न बिगड़ता है और न सुधरता है। हमें भीतर प्रवेश कर उन कारणों को खोजना होगा। शरीर में अनेक ग्रन्थियाँ हैं, वे मनुष्य को बनाने-बिगाड़ने में बहुत काम करती हैं। एक शरीर-शास्त्री जानता है कि व्यक्ति के निर्माण में और ध्वंस में ग्रन्थियों का कितना बड़ा हाथ होता है? वह जानता है कि इनमें नाड़ी संस्थान का क्या दायित्व होता है? जब तक हम इन सब पर ध्यान नहीं देंगे तब तक सुधरने-सुधारने की समस्या का समाधान नहीं होगा।

रोम में घटित एक घटना है। दस वर्ष का एक बालक अपराधी बन गया। अपराध करना उसका स्वभाव जैसा बन गया। पचास वर्ष तक उसने अनेक अपराध किए। चालीस बार जेल गया। यातनाएं सहीं। पर वह अपराध को छोड़ नहीं सका। उसके अपराध-वृत्ति के कारणों की खोजें प्रारम्भ हुईं। अनेक वैज्ञानिक संगलन हुए। उससे पूछताछ प्रारम्भ हुई। एक वैज्ञानिक ने पूछा—क्या तुम्हें कभी चोट आई? उसने कहा—एक बार कार का एक्सीडेंट हो गया था। कनपटी के पास चोट आई थी। वैज्ञानिक ने उसकी कनपटी का एक्सरे लिया। उससे ज्ञात हुआ कि कनपटी के पास एक नाड़ी में कुछ फंसा हुआ है। ऑपरेशन किया। उस नाड़ी में कांच का सूक्ष्म टुकड़ा फंसा हुआ था। वह जब भी अवरोध पैदा करता, उस व्यक्ति में अपराध की भावना उभरती, और वह कोई-न-कोई अपराध कर लेता। उस टुकड़े को निकाल दिया गया। उसकी अपराध-वृत्ति समाप्त हो गई। वह एक सभ्य व्यक्ति की गिनती में आ गया।

हमारे शरीर में कनपटी का भाग महत्त्वपूर्ण है। कनपटी के पास स्मृति-केन्द्र भरे पड़े हैं। जो कनपटी को समझ लेता है वह स्मृति का काफी विकास कर लेता है।

भीतर की खोज से बहुत सारे अपराध नष्ट हो जाते हैं।

आज रोगी को कहा जाता है—तुम मनोवैज्ञानिक जांच कराओ। अपराधी को कहा जाता है—तुम किसी मनोवैज्ञानिक के पास जाकर मूल कारण की खोज कराओ। मनोवैज्ञानिक खोज आध्यात्मिक खोज है, भीतर की खोज है। मनोवैज्ञानिक बाहरी खोज को इतना महत्त्व नहीं देता। वह भीतर की खोज को महत्त्व देता है। मनोवैज्ञानिक खोज पूरी भीतरी खोज की प्रक्रिया है।

पाश्चात्य देशों में रोगों की डाक्टरी जांच के साथ मनोवैज्ञानिक जांच भी की जाती है। अनेक बीमारियाँ शारीरिक नहीं होती, वे मानसिक होती हैं, परन्तु शरीर में अभिव्यक्त होने के कारण उन्हें शारीरिक बीमारियाँ मान लिया जाता है

और उसी आधार पर उनकी चिकित्सा की जाती है। पर उपचार फलप्रद नहीं होता। रोग नहीं मिटता। मनोवैज्ञानिक उपचार होता है और वह रोग शांत हो जाता है।

ध्यान की प्रक्रिया भीतरी खोज की प्रक्रिया है। शरीर-प्रेक्षा करने वाला साधक जब पैर से सिर तक एक-एक अवयव की प्रेक्षा करता है तब वह भीतर की गहराई तक पहुंच जाता है। वह बाहरी खोज नहीं करता। वह भीतरी खोज करता है। उस समय प्राणशक्ति का ऐसा प्रवाह होता है कि शरीर के अवयवों के अवरोध मिट जाते हैं। असंतुलित प्राणशक्ति संतुलित हो जाती है, विद्युत् का प्रवाह संतुलित हो जाता है। चैतन्य-केन्द्रों के अवरोध मिट जाते हैं।

एक आदमी शारीरिक श्रम करने वाला है। दूसरा मानसिक श्रम करता है। तीसरा दार्शनिक है जो सृष्टि की समस्याओं को सुलझाने में लगा रहता है। चौथा वैज्ञानिक है जो नए-नए आविष्कारों के लिए सतत गहरे चिन्तन में रहता है। चारों प्रकार के आदमी थकान का अनुभव करते हैं, तनावग्रस्त भी होते हैं। हम यह न मानें कि बुरे चिंतन से ही तनाव पैदा होता है, अच्छे चिंतन से भी वह पैदा होता है। श्रमिक में जो थकान और तनाव होता है, वह दार्शनिक पहलू में उलझे हुए दार्शनिक और वैज्ञानिक पहलू में उलझे हुए वैज्ञानिक में भी होता है। वह भी थकान और तनाव से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये सारी शारीरिक क्रियाएं हैं। जो भी व्यक्ति ज्यादा श्रम करेगा, विश्राम नहीं करेगा तो एड्रीनल कार्टेक्स पर उसका प्रभाव होगा। उससे हार्मोन्स का स्राव अधिक होगा। वह रक्त में मिलेगा। उससे थकान पैदा होगी। जैसे ही एड्रीनल कार्टेक्स की सक्रियता बढ़ती है, थाइमस सिकुड़ने लग जाता है। थाइमस ग्लेण्ड छाती के पास होता है। आनन्द-केन्द्र का संबंध इस थाइमस ग्रंथि से हो सकता है। थाइमस का कार्य बहुत महत्त्वपूर्ण होता है किन्तु एड्रीनल कार्टेक्स की सक्रियता के कारण वह सिकुड़ने लग जाता है। शरीर के एक अवयव की क्रिया का प्रभाव दूसरे अवयव पर पड़ता है और तब संतुलन बिगड़ जाता है। शरीर में पूरा संतुलन है, समन्वय है। एक व्यक्ति के चोट लगती है। पर चोट की क्षति को पूरा करने के लिए एड्रीनल की शक्ति उधर लग जाती है। अनुकूलन ऊर्जा भी उधर खपने लग जाती है। परिणाम यह होता है कि आंतों में छाले पड़ जाते हैं। पाचन का कोई दोष नहीं, किन्तु जो ऊर्जा आंतों को मिलनी चाहिए थी वह ऊर्जा उस टूट-फूट में, हड्डियों को ठीक करने में लग गई। आंतों को पूरी ऊर्जा मिली नहीं। उसमें छाले पड़ गए।

ऊर्जा का संतुलन, प्राणधारा का संतुलन और विद्युत् का संतुलन बना रहे, इस दृष्टि से ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व है। यह संतुलन बना रहता है तो व्यक्ति

सुधरता है, आदतें बदलती हैं। आदतों के रूपान्तरण में इन ग्रन्थियों के स्रावों का बड़ा योग होता है। ग्रन्थियों का स्राव सन्तुलित होता है तो आदतें अपने आप सुधरने लग जाती हैं।

ध्यान एक प्रयोगशाला है व्यक्तित्व को सुधारने की।

आचार्य श्री ने एक स्वर दिया—व्यक्ति सुधरे। आज का स्वर दूसरा है—समाज सुधरे। इस स्वर में व्यक्ति की बात को भुला दिया गया। किंतु अध्यात्म का यह स्वर नहीं हो सकता। समाज को सुधारा जा सकता है नियन्त्रण के द्वारा, कठोर अनुशासन के द्वारा। सुधारा जा सकता है—यह प्रयोग नहीं करना चाहिए किंतु कहना चाहिए 'उसे नियंत्रित किया जा सकता है।' यह सचाई है कि कठोर नियंत्रण के बावजूद भी व्यक्ति आज वहां का वहां है। बीसों, तीसों, पचासों वर्षों के नियंत्रण के बाद भी एक इन्च भी नहीं सरक पाया है। आज भी उसमें लालची मनोवृत्ति है। अधिनायकवाद या कठोर कानून होने पर भी वह भ्रष्टाचार करता है, स्मगलिंग करता है तथा और भी अनेक बुराइयां करता है। साम्यवादी देश के लोगों में आज फिर एक प्रश्न उभरा है कि इतना कठोर नियन्त्रण होने के बाद भी व्यक्ति बदला नहीं है। सामान्य स्तर पर ही नहीं, सरकारी स्तर पर भी इस बात को स्वीकार किया गया है कि व्यक्ति बदला नहीं है। यह बड़े आश्चर्य की बात है।

अध्यात्म का स्वर बहुत महत्त्वपूर्ण स्वर है। इसी स्वर में यह गाया गया—'सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से'। व्यक्ति सुधर सकता है। उसका हृदय बदल सकता है। सुधारने का एकमात्र उपाय है—अध्यात्म। इसके अतिरिक्त हृदय-परिवर्तन का कोई सशक्त माध्यम नहीं है।

एक भाई ने कहा—मैं शिविर में आया, साधना की। अब मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं अपने पूरे परिवार को शिविर में भेजूं। मैंने पूछा—क्यों? उसने कहा—यदि परिवार के सारे सदस्य सुधर जाते हैं तो मेरा जीवन बहुत शांति और आनन्दमय हो जाएगा।

यह सचाई है, जब व्यक्ति सुधरता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि मेरी आदतें बदली हैं, मेरे आवेग कम हुए हैं, तब वह चाहेगा कि उसकी पत्नी भी आए, पुत्र भी आए, वे सब सदस्य आए जो बदलना चाहते हैं। रूपान्तरण की अनुभूति जब व्यक्ति को स्वयं को हो जाती है तब वह पूरे परिवार को बदला हुआ देखना चाहेगा, क्योंकि उस स्थिति में ही शांति बनी रह सकती है, घर की स्थिति ठीक हो सकती है।

ध्यान आदतों में परिवर्तन लाने का सशक्त माध्यम है। 'तुलसी अध्यात्म नीडम्' का यह 'प्रज्ञा-प्रदीप' आदतों को बदलने की प्रयोगशाला बन चुका है। साधक

आते हैं, साधना करते हैं और अपने आप में कुछ परिवर्तन महसूस करते हैं।

आज के बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक भी आदतों को बदलने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। वे दवाइयों के द्वारा कुछ रासायनिक परिवर्तन कर इस दिशा में कुछ सफल होते हैं, पर पूरी सफलता उनके हाथ नहीं लगती। दवाइयां दे देकर कब तक बदला जा सकता है? दवाइयों की भी एक सीमा है। वास्तव में यदि हमारा अन्तःकरण बदल जाए, ग्रन्थियों के स्राव बदल जाएं, जैविक, रासायनिक परिवर्तन हो जाए तो परिवर्तन आ सकता है।

यदि भावनात्मक प्रयोगों के द्वारा, एकाग्रता के द्वारा, प्राणशक्ति के द्वारा, मानसिक प्रक्रियाओं के द्वारा तथा श्वासप्रेक्षा, शरीरप्रेक्षा और चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा के द्वारा स्वतः हम रसायनों को बदलने में सक्षम होते हैं तो फिर किसी दवाई की आवश्यकता नहीं रह जाती।

एक भाई शिविर में है। वह बता रहा था कि उसने लगभग पचास हजार रुपये खर्च किए हैं अपने रोग को मिटाने के लिए। रोग था अनिद्रा का। अनेक प्रयत्न किए कि बिना नींद की गोली खाए नींद आ जाए, पर वैसा नहीं हुआ। शिविर की महिमा सुनी। लोगों के अनुभव सुने। शिविर में रहा। अब ऐसा अनुभव हो रहा है कि नींद के लिए गोली आवश्यक नहीं है। बिना गोली लिए सुखपूर्वक नींद लेता हूँ।

आचार्यवर ने आज ही कहा था कि गुरु का काम इतना-सा होता है कि वे अपने शिष्य को कोई अनुभूति करा दें। यदि शिष्य का अनुभव जाग जाता है तो उसे प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रहती।

‘सुधरे व्यक्ति’—यह बहुत महत्त्वपूर्ण स्वर है। जिस दिन व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया गतिशील होगी, उस दिन से समाज-सुधार की प्रक्रिया बहुत स्पष्ट हो जाएगी।

आज आवश्यकता है कि हम ‘सुधरे व्यक्ति’ के सिद्धांत को त्वरा से प्रचारित करें। आज की दुनिया में संचार के बहुत साधन हैं। यदि योजना हो, अनुभव हो और बुद्धि हो तो बहुत कुछ किया जा सकता है और यदि तीनों की कमी हो तो कुछ भी नहीं हो सकता।

व्यक्ति-सुधार का स्वर अणुव्रत के साथ उच्चारित हुआ। जिस दिन अणुव्रत आन्दोलन का शुभारम्भ हुआ उसी दिन से यह स्वर शक्तिशाली बना। ‘सुधरे व्यक्ति समाज व्यक्ति से’—यह हमारा एक लक्ष्य है। किन्तु समाज के सुधारकों से हमारा कोई विवाद नहीं है। आज के साम्यवादी और समाजवादी लोगों से हमारा कोई विरोध नहीं है। वे भी समाज को सुधारना चाहते हैं, और हम भी समाज को

सुधारना चाहते हैं। दोनों की प्रक्रिया में अन्तर है। वे सीधा समाज को सुधारना चाहते हैं, किन्तु अध्यात्मवादी, व्यक्ति को सुधार कर समाज को सुधारना चाहते हैं। भविष्य ही बता सकता है कि कौन-सी प्रक्रिया सही है? यदि हम तथ्यों का सही विश्लेषण करते हैं तो यह सचाई बहुत स्पष्ट हो जाती है कि व्यक्ति को बदले बिना समाज को नहीं बदला जा सकता। साम्यवादी पार्टी की रिपोर्ट का अंश पढ़ा। उसमें एक टिप्पणी थी—इतने वर्षों के प्रयत्न के बाद भी लगता है कि व्यक्ति बदला नहीं है। वहाँ व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर दिया गया था, पर फिर उसे आंशिक रूप से स्वीकार करना पड़ा। साम्यवादी व्यवस्था में जहाँ भ्रष्टाचार की कल्पना नहीं की जा सकती वहाँ करोड़ों रुबल का घोटाला पकड़ा गया है। न जाने कितने लोगों को फांसी दी गई, मारा गया। अपराधी को मार दो, सुधार हो जाएगा, यह आज मान्य नहीं है। इस पर काफी चिन्तन हो रहा है और फिर से इस बिन्दु पर पहुंचा जा रहा है कि व्यक्ति को भीतर से बदलना चाहिए।

दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिपादित किया था कि हृदय-परिवर्तन के बिना धर्म नहीं हो सकता। यह इतना महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि आज का समूचा युग इस सचाई को स्वीकार करता जा रहा है—हृदय-परिवर्तन के बिना धर्म नहीं हो सकता। हृदय-परिवर्तन के बिना समाज नहीं सुधर सकता। ये बातें जब स्पष्ट होंगी तब अध्यात्म की ज्योति प्रज्वलित होगी और तब व्यक्ति सुखी बनेगा, समाज सुखी बनेगा। समाज सुखी बनेगा तो राष्ट्र समृद्ध, स्वस्थ और सुखी बनेगा।

ध्यान एक परम पुरुषार्थ

एक था समाजशास्त्री और दूसरा अर्थशास्त्री। दोनों उपस्थित हुए और चिन्ता के स्वर में बोले—‘धर्म ने पहले ही देश को निठल्ला बना दिया है। शताब्दियों से धर्म करने वाले लोग निकम्मे होकर भाग्य के भरोसे बैठे हैं। वे कोई पुरुषार्थ नहीं करते, श्रम नहीं करते। कतराते हैं श्रम से, काम करने से। जैसा भाग्य में लिखा है वैसा हो जाएगा, यह मानकर चल रहे हैं। उनका सारा पराक्रम अस्त हो गया है। उनके पुरुषार्थ का प्रदीप प्रायः बुझ गया है। धर्म ने यह स्थिति पैदा कर दी और अब यह ध्यान का प्रचार और चल पड़ा। लोग इससे और अधिक निठल्ले बन जाएंगे। जैसे-जैसे ध्यान के प्रचार का विकास होगा, लोग आंखें मूंद कर बैठ जाएंगे, निकम्मे हो जाएंगे। जो आंख मूंद कर बैठता है उसे शांति का अनुभव होता है, आराम मिलता है, आनन्द की अनुभूति होती है। यह सारा निठल्लापन पैदा करता है। जैसे-जैसे यह बढ़ेगा वैसे-वैसे गरीबी बढ़ेगी, समस्याएं बढ़ेगी। यह राष्ट्र और समाज के लिए कल्याणकारी नहीं होगा, हितकारी नहीं होगा। इस प्रवृत्ति को रोक दिया जाना चाहिए।

मैंने सुना। उनकी चिन्ता को देखते हुए लगता था कि वे कोई कृत्रिम बात नहीं कह रहे हैं। वे एक सचाई का अनुभव कर रहे हैं और उसको मानसिक व्यथा के साथ प्रकट कर रहे हैं। इस स्थिति में ध्यान की प्रक्रिया को चलाना एक प्रश्न है। यह प्रश्न उन दोनों व्यक्तियों के मन का ही नहीं है, किसी भी समझदार व्यक्ति के मन में यह उभर सकता है। क्या घंटों तक, दिनों तक आंखें बन्द कर निठल्ला होकर बैठे रहना, कुछ भी उत्पादक श्रम नहीं करना, इस गरीब राष्ट्र के प्रति अन्याय नहीं है? क्या अध्यात्म की चर्चाओं से राष्ट्र का हित हो सकता है? क्या इससे समाज का हित हो सकता है?

इस प्रश्न का उभरना सहज है। यह प्रश्न तब तक उभरता रहेगा जब तक व्यक्ति का दृष्टिकोण एकांगी रहेगा। वे सारे प्रश्न और सारी समस्याएं जो यथार्थ को छूती हैं या नहीं भी छूतीं, इसीलिए जीती हैं कि वे सब टूटे हुए प्रश्न हैं, टूटी हुई समस्याएं हैं। ये प्रश्न जुड़े हुए नहीं हैं। ये समस्याएं जुड़ी हुई नहीं हैं।

विज्ञान यह मानता था कि जीवशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, रसायनशास्त्र, पर्यावरणशास्त्र—ये सब पृथक्-पृथक् हैं। यही मानकर सब शास्त्रों का स्वतन्त्र रूप से अध्ययन किया जाता था। इस अध्ययन के आधार पर जो निर्णय लिए गए, वे

सही अवश्य थे, पर इनसे पूरा समाधान नहीं मिला। वैज्ञानिकों का चिन्तन आगे बढ़ा। आज वे मानते हैं कि वे सारी शाखाएं इन्टरकनेक्टेड हैं, परस्पर जुड़ी हुई हैं। जब तक इनका विरोध समवेत अध्ययन नहीं होगा, सारी शाखाओं को जोड़कर नहीं देखा जाएगा, तब तक वास्तविकता हाथ नहीं लगेगी। एकांगी दृष्टि के द्वारा लिए गए सारे निर्णय अपने आप गलत होते चले जा रहे हैं। आज सारी शाखाओं का एक साथ अध्ययन करने का प्रयत्न चल रहा है। स्याद्वाद का दृष्टिकोण विज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश पा रहा है। वह कहता है, तोड़कर मत देखो। एक वस्तु के अनन्त पहलू हैं। तुम जितना देख सको, सापेक्ष देखो। एक-एक पहलू को देखने से निर्णय तक तो पहुंचा जा सकता है, परन्तु वह सही निर्णय नहीं होगा, पूरा निर्णय नहीं होगा। वह निर्णय नैर्यात्रक नहीं होगा, ठेठ तक पहुंचने वाला नहीं होगा। वह समस्या के पार पहुंचने वाला नहीं होगा। समस्या के पार तक तभी पहुंचा जा सकता है जब हमारा अध्ययन सभी पहलुओं से जुड़ा हुआ हो और उसी के आधार पर कोई निर्णय निकले।

समाजशास्त्री का एक निर्णय होता है, अर्थशास्त्री का एक निर्णय होता है। अध्यात्मशास्त्री और मानसशास्त्री का भिन्न निर्णय होता है। ये सारे निष्कर्ष यदि बंटे हुए हों, उनके बीच कोई अभेद्य दीवार हो तो वे सब गलत होंगे। कोई भी निर्णय संपूर्ण दृष्टि से सही नहीं होगा। वे सब एकांगी होंगे। वे सब सही तभी होंगे जब बीच की दीवार तोड़ दी जाए और सबको सापेक्षता के सूत्र से जोड़ दिया जाए। माला तभी बन सकती है जब प्रत्येक मनके में एक धागा पिरोया हुआ हो। मनके अलग-अलग हैं, पर धागा एक हो तो माला बन जाती है। यदि धागा न हो तो मनका, मनका ही रहेगा, माला नहीं बनेगी। माला के लिए एक सूत्र का होना जरूरी है। सचाई को पाने के लिए एकसूत्रता को पाना बहुत जरूरी है।

एकांगिता के कारण ध्यान के प्रति यह धारणा बन सकती है कि ध्यान करने का अर्थ है—निकम्मा रहना, समय का अपव्यय करना। जिसने केवल समाज शास्त्र या अर्थशास्त्र को पढ़ा है, उसके मन में यह विकल्प उठ सकता है। ऐसा विकल्प उठना अस्वाभाविक नहीं है, स्वाभाविक और यथार्थ है। क्योंकि वह केवल समाजशास्त्री है, केवल अर्थशास्त्री है। वह अध्यात्म के रहस्य को नहीं जानता। जो समाजशास्त्री है, उसे अध्यात्मशास्त्री या समाजशास्त्री भी होना नितान्त आवश्यक है। यदि वह अर्थशास्त्र को नहीं जानता तो कभी-कभी धर्म के विषय में ऐसी बेबुनियादी बातें भी कह डालता है, जिनका समाज के साथ कोई मेल नहीं बैठता, कोई संगति नहीं होती। उसका उपदेश केवल आकाशी उड़ान रह जाता है। व्यवहार के धरातल पर वह कभी जीवित नहीं रह पाता। वस्तु के अनेक पहलू होते

हैं। प्रत्येक पहलू को जानना बहुत आवश्यक होता है। इसलिए प्रत्यक्ष द्रष्टा को अनन्तचक्षु कहा गया है। एक चक्षु से काम नहीं चलता, दो से भी काम नहीं चलता और तीसरा नेत्र खुल जाने पर भी काम नहीं चलता। जब अनन्तचक्षु खुलते हैं, तभी सत्य हस्तगत होता है। तब न अर्थशास्त्र बचता है, न कामशास्त्र बचता है और न समाजशास्त्र बचता है। कुछ भी नहीं बचता। सबका समावेश हो जाता है। इसीलिए एक सिद्धान्त स्थिर हुआ—ज्ञेय सब कुछ है। संसार में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो ज्ञेय न हो। किसी को ज्ञेय की सीमा से परे नहीं किया जा सकता। जहां ज्ञेय का प्रश्न है वहां कोई भी अछूत नहीं है। वहां सवर्ण और अ-सवर्ण का भेद नहीं है। वहां अच्छे-बुरे, हितकर-अहितकर का प्रश्न नहीं है। ज्ञेय की दृष्टि से जितना मूल्य चेतन तत्त्व का है उतना ही मूल्य पुद्गल का है। पुद्गल भी ज्ञेय और आत्मा भी ज्ञेय। मोक्ष की आत्मा भी ज्ञेय और नारकीय यातना भुगतने वाली आत्मा भी ज्ञेय। भव्य आत्मा भी ज्ञेय तो अभव्य आत्मा भी ज्ञेय। कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर आता है हेय और उपादेय के प्रश्न पर।

ध्यान आदमी को निकम्मा बनाता है—यह एक दृष्टि है। एक घंटा ध्यान में बैठने वाला साधक कोई उत्पादक श्रम नहीं करता, न खेती करता है और न कपड़ा बुनता है। यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू भी है। व्यक्ति श्रम करता है शक्ति से। शक्ति के अभाव में आदमी कोई काम नहीं कर सकता। काम होता है एकाग्रता से। चंचल आदमी काम में कभी सफल नहीं हो सकता। एकाग्रता और शक्ति—ये दोनों कार्य की दक्षता के लिए बहुत मूल्यवान हैं। काम करना एक बात है और दक्षता होना दूसरी बात है। आज के विज्ञान ने दक्षता के विकास का सूत्र दिया। यह उसकी अमूल्य देन है। काम पहले भी होता था, पर दक्षता का विकास आज जितना है, उतना पहले नहीं था। जो काम पहले दस घंटों में होता था, आज वह दस मिनट में निपटाया जा सकता है।

लोग कहते हैं जापान ने बहुत प्रगति की है। प्रश्न हो सकता है कि कारण क्या है? एक दिशान्तरण हुआ है। उनकी दिशा बदली है। उसका मूल कारण है एकाग्रता। जापानी लोगों ने ध्यान के द्वारा बहुत लाभ उठाया। वे स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि जापान के लोग जब से ध्यान करने लगे हैं, उन्होंने शरीर-बल पाया है, मनोबल पाया है।

अनेक प्रयोग चलते हैं। ध्यान के विशेष प्रयोग करने वाला व्यक्ति हो, मजबूत ईंटें हाथ में लेता है और उनको चूर-चूर कर देता है। यह कला ध्यान के द्वारा विकसित हुई है। लड़ने की कला विकसित हुई है। एक निहत्या आदमी शस्त्र वाले व्यक्ति के साथ लड़ सकता है और विजय पा लेता है। यह भी ध्यान का प्रयोग है।

जापानी लोगों ने ध्यान के द्वारा मनोबल पाया है और अनुशासन पाया है। अनुशासन का इतना विकास किया कि जीवन का विसर्जन हंसते-हंसते कर देते हैं। इतना अनुशासन कि वे काम कभी बन्द नहीं करते। वे हड़ताल करते हैं पर काम बन्द नहीं करते। हड़ताल का प्रतीक है हाथ पर काली पट्टी बांध देना। यह क्रम दसों दिन तक चलता है पर काम कभी बन्द नहीं होता। यह अनुशासन कहां से विकसित हुआ? काम करने की प्रखरता कहां से आई? यह सब एकाग्रता और ध्यान से प्राप्त हुआ है।

जिस राष्ट्र के नागरिक ध्यान नहीं करते, वे शक्ति-सम्पन्न कभी नहीं हो सकते। आज का प्रत्येक वैज्ञानिक, जो गहराइयों में डुबकियां लगाता है, वह कम ध्यानी नहीं है। बिना ध्यान या एकाग्रता के नए तथ्य उद्घाटित नहीं होते। ध्यान की एक ही पद्धति नहीं है, एक ही प्रकार नहीं है। अनेक पद्धतियां हैं, अनेक प्रकार हैं। कुछ पद्धतियां अभ्यास करने से हस्तगत होती हैं और कुछ अनायास, अपनी पूर्वकृत योग्यताओं से उतर आती हैं।

न्यूटन बहुत बड़ा वैज्ञानिक था। एक बार घोड़े पर चढ़कर जा रहा था। चढ़ाई आई। वह घोड़े से नीचे उतरा। लगाम हाथ में लेकर चल रहा था। दिमाग में कोई प्रश्न उभरा। उसे सुलझाने लगा। विचारों के जाल में उलझता गया। गति धीमी हो गई। घोड़ा मंदगति से चलते चलते ऊब गया। सर हिलाया। लगाम निकल गई। घोड़ा भागता हुआ घर आ गया। न्यूटन घोड़े की लगाम पकड़े अभी भी उसी गति से चल रहा था। उसे पता ही नहीं चला कि घोड़ा भाग गया है और उसके हाथ में केवल लगाम है। घर पहुंचा। घोड़े के बांधने के लिए तैयार हुआ। ध्यान बदला। उसने देखा, हाथ में लगाम है, घोड़ा तो है ही नहीं। घोड़ा अस्तबल में बंधा हुआ है।

क्या इसे हम एकाग्रता नहीं कहेंगे? उसका मन सभी विषयों से हटकर एक ही विषय में लग गया। यह एकाग्रता है। चेतना का एक ही प्रवाह में प्रवाहित हो जाना एकाग्रता है। कोई भी व्यक्ति गहरी समस्या में उलझता है तब वह ध्यान की स्थिति में चला जाता है। गहरी एकाग्रता सधे बिना सूक्ष्म सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता।

शक्ति का विकास और एकाग्रता का विकास ध्यान के द्वारा ही हो सकता है। हमारे पास दो शक्तियां हैं—एक है ज्ञान की शक्ति और दूसरी है क्रिया की शक्ति। एक है ज्ञानात्मक शक्ति और दूसरी है क्रियात्मक शक्ति। इन दोनों शक्तियों का विकास ध्यान के द्वारा हो सकता है। इन शक्तियों के विकास में तीन बाधाएं हैं—शरीर की बीमारी, मन की बीमारी और प्रभाव की बीमारी। जब शरीर बीमार होता है तब ज्ञानात्मक और क्रियात्मक शक्तियां सो जाती हैं, ठंडी पड़ जाती हैं।

इससे भी खतरनाक है मन की बीमारी। जब मन आहत होता है, उसे कोई आघात लगता है तब पैर वहीं रुक जाते हैं। एक आदमी बहुत अच्छा काम करता है। कोई उसे कह देता है—गधे हो, बेबकूफ हो। यह भी कोई काम करने का तरीका है? इतना सुनते ही उसके मन में आग सुलग जाती है, काम करने की भावना टूट जाती है, शक्ति क्षीण हो जाती है।

महाभारत का युद्ध हो रहा था। एक ओर अर्जुन और उसके सारथी थे कृष्ण। दूसरी ओर कर्ण और उसका सारथी था शल्य। युधिष्ठिर ने शल्य से कहा—तुम हमारे विरुद्ध हथियार अवश्य उठाना, पर मेरी एक बात मानना, जब भी कर्ण प्रहार करे तब कहना—यह भी कोई प्रहार होता है! तुम प्रहार करना जानते ही नहीं। बस, इन वाक्यों को दोहराते रहना। शल्य ने युधिष्ठिर की बात स्वीकार कर ली। युद्ध प्रारम्भ हुआ। कर्ण के प्रत्येक प्रहार पर शल्य कहता—यह भी कोई प्रहार है? तुम प्रहार करना जानते ही नहीं। इधर अर्जुन के प्रत्येक प्रहार पर कृष्ण कहते—वाह! कैसा प्रहार किया है! वाह! क्या निशाना साधा है! प्रत्येक वार पर कर्ण हतोत्साहित होता और अर्जुन प्रोत्साहित होता। कर्ण का बल क्षीण होता गया, उसकी शक्ति टूटती गई, वह शक्तिहीन हो गया। अर्जुन की शक्ति बढ़ती गई। वह पहले से अधिक शक्तिशाली हो गया।

जब मन पर आघात होता है तब शक्ति सो जाती है। बड़े-बड़े कर्मठ लोग भी अकर्मण्य बन जाते हैं, जब मन पर चोट लगती है। मन की चोट बहुत भयंकर होती है और जब मन रोग-ग्रस्त हो जाता है तब सारी शक्तियां क्षीण हो जाती हैं।

तीसरा अवरोध है—प्रभाव का। प्रभाव भी आदमी को बहुत प्रभावित करता है। कोई व्यक्ति ज्योतिष पर विश्वास करे या न करे, किन्तु वह इस सचाई को अस्वीकार नहीं कर सकता कि ग्रहों का हमारे जीवन पर प्रभाव पड़ता है। यह परम वैज्ञानिक तथ्य है। यह अन्धविश्वास नहीं है। लोग ज्योतिष को यों ही टाल देते हैं। यह एक एकांगी दृष्टि का परिणाम है। यदि सर्वांगीण दृष्टि का विकास हो तो ज्योतिष को अस्वीकार करने का कोई कारण नहीं रह जाता।

जैन आचार्य ने एक ग्रन्थ लिखा 'गणिविज्जा' (सं. गणिविद्या)। आचार्य को इसका अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक होता है। किस मुहूर्त में और कहां दीक्षा देनी चाहिए? कब देनी चाहिए? अध्ययन कब शुरू करना चाहिए? किस दिशा के सम्मुख होकर करना चाहिए—यह सारा विषय उस ग्रन्थ में वर्णित है।

प्रत्येक आयाम के पीछे दो पक्ष छिपे हुए होते हैं—देश और काल। देश और काल के बिना कोई भी प्रवृत्ति प्रारम्भ नहीं हो सकती। मैं अभी-अभी पुराने साधु-साध्वियों की जीवनियां पढ़ रहा था। आचार्यों ने उन्हें दीक्षा दी। उनका

दीक्षा-स्थल है—वटवृक्ष। शुभ मुहूर्त में दीक्षा दी। आचार्य शकुन को जानते हैं, मुहूर्त को जानते हैं, देश और काल को जानते हैं।

आचार्य जंगल में जा रहे थे। साथ में एक दीक्षार्थी व्यक्ति था। आचार्य मुहूर्त के ज्ञाता थे। उन्होंने देखा—शुभ मुहूर्त चला जा रहा है। उन्होंने उस दीक्षार्थी को गृहस्थ-वेष में ही दीक्षा दे दी। वह आभूषण भी पहले हुए था। अगले गांव में पहुंच कर उसका गृहस्थ वेण और आभूषण गृहस्थों को संभला दिए गए।

लाडनू की घटना है। जयाचार्य शौचार्थ जंगल में गए। देखा, शकुन अच्छा हुआ है। तत्काल साधुओं से कहा—सुजानगढ़ के लिए प्रस्थान कर दें, शकुन बहुत अच्छा हुआ है। जयाचार्य कुछ साधुओं को लेकर सुजानगढ़ की ओर चल पड़े। किसी साधु-साध्वी या श्रावक-श्राविकाओं को कुछ भी पता नहीं चला। स्थान पर सब उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहे थे। बाद में कुछ साधुओं को भेजकर सामान मंगवा लिया गया।

आचार्य भिक्षु विहार कर जा रहे थे। गांव के बाहर आये। शकुन अच्छा नहीं हुआ। वापस लौट आए।

आचार्य इन सबके जानकार होते हैं। देश-कालविद् होना आचार्य का एक गुण है, अतिशय है। एक क्षेत्र में होने वाला कार्य सफल होता है और वही कार्य दूसरे क्षेत्र में करने पर विफल हो जाता है। एक काल में होने वाला कार्य सफल होता है और वही कार्य दूसरे समय में करने पर विफल हो जाता है।

सौरमंडल से आने वाले विकिरण हमारे प्रत्येक कार्य को प्रभावित करते हैं, जैसे ज्योतिष का सौरमंडल है, वैसे ही अध्यात्म का भी सौरमंडल है। ज्योतिष में नौ ग्रह माने जाते हैं। अध्यात्म में भी नौ ग्रह सम्मत हैं—

दायां मस्तिष्क—गुरु का क्षेत्र

लघु मस्तिष्क—बुध का क्षेत्र।

शक्तिकेन्द्र—राहु का क्षेत्र, बुध का क्षेत्र।

आनन्दकेन्द्र—मंगल का क्षेत्र।

विशुद्धिकेन्द्र—चन्द्रमा का क्षेत्र।

स्वास्थ्यकेन्द्र—शुक्र का क्षेत्र।

तैजसकेन्द्र—सूर्य का क्षेत्र।

ज्ञानकेन्द्र—शनि का क्षेत्र।

सारा सौरमंडल हमारे शरीर के भीतर है। यदि कुण्डली के आधार पर यह ज्ञात हो कि अमुक ग्रह अभी शुभ नहीं है, उसकी गति हितकर नहीं है, उसको बदलने का उपाय आपके पास है। ज्योतिष भाग्य-भरोसे बैठने का सिद्धान्त नहीं

है। ज्योतिष भाग्य को बदलने का सिद्धान्त है। ज्योतिष के द्वारा जाना जा सकता है और फिर भाग्य को बदला जा सकता है, ग्रह के परिणाम में परिवर्तन लाया जा सकता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि उसके द्वारा भाग्य की प्रत्येक रेखा को बदला जा सकता है, रूपान्तरित किया जा सकता है। ज्योतिष ज्ञापक है, कारक नहीं है। वह बतलाने वाला है कि अमुक घटना घटित होने वाली है। जान लेने पर, ज्ञात हो जाने पर, उचित उपाय करना हमारे हाथ में है। जैसे-जैसे ध्यान का विकास होता है, वैसे-वैसे हमारी प्रज्ञा निर्मल होती है, शक्ति जागती है और पुरुषार्थ प्रबल होता है, ध्यान की साधना से आदमी निठल्ला नहीं बनता किन्तु भाग्य को बदलने वाला बन जाता है। वह राम भरोसे या भाग्य भरोसे बैठने वाला नहीं बनता, किन्तु वह बदलने का दायित्व अपने पर ओढ़ लेता है और उस पुरुषार्थ में सर्वात्मना जुट जाता है। वह यह मानता है-मैं भाग्य को बदल सकता हूँ, बदलने वाला हूँ, बदलने की चाबियाँ मुझे प्राप्त हो गई हैं।

जिस व्यक्ति ने चैतन्य-केन्द्रों पर ध्यान किया है, मंत्रों का ध्यान किया है, रंगों का ध्यान किया है, वह अपने शारीरिक स्वास्थ्य को भी बदल सकता है, मानसिक आघातों को भी बदल सकता है, मानसिक ग्रन्थियों को भी खोल सकता है। ऐसी ग्रन्थियाँ होती हैं, जिनको खोलना दुष्कर और असंभव लगता है, वे ग्रन्थियाँ ध्यान के द्वारा खुल जाती हैं। वह व्यक्ति ग्रहों के प्रभावों को भी बदल सकता है।

अध्यात्म का पूरा ज्योतिष है। उसमें यह जानने को मिलता है कि किस महीने में, किस राशि में, किस चैतन्य-केन्द्र पर ध्यान करना चाहिए और क्यों करना चाहिए। अप्रैल महीने में किस केन्द्र पर, किस ग्रह का ध्यान शुभ होता है और मई महीने में कौन-सा शुभ होता है? अमुक शक्ति के विकास के लिए कब, कहां ध्यान केन्द्रित करना है-ये सब तथ्य अध्यात्म ज्योतिष की परिधि में आते हैं। यह शक्ति-जागरण का पूरा विज्ञान है।

ध्यान करने वाला निकम्मा नहीं होता, निठल्ला नहीं होता, आलसी नहीं होता, अकर्मण्य नहीं होता। उसमें एक आग प्रज्वलित हो जाती है, एक ज्योति जल जाती है। उसके आलोक में वह सही दिशा में देख सकता है, सही कार्य में अपनी शक्ति का नियोजन कर सकता है। शक्ति का पूरा नियोजन हो और फलितार्थ आए छोटा-सा, उसे कर्मण्यता नहीं कहा जा सकता। कर्मण्यता यह है कि कम श्रम में बहुत बड़ी निष्पत्ति हो। ध्यान करने वाले व्यक्ति में इस कर्मण्यता का जागरण हो जाता है। वह उतना ही श्रम करता है जितना अपने लिए, परिवार के लिए, समाज के लिए और राष्ट्र के लिए आवश्यक होता है। वह अनावश्यक श्रम नहीं करेगा। वह अपना श्रम ऐसी गैसों के उत्पादन में नहीं लगायेगा जिससे सात मिनट में पूरी

दुनिया नष्ट हो जाए। यह भी कोई श्रम है? आज हजारों-हजारों वैज्ञानिक अनेक प्रकार के 'वायरस' बनाने में लगे हुए हैं। एक बार ऐसा हुआ। एक कार्यालय में वायरस का एक डिब्बा पड़ा था, वह खुल गया। उसमें से कीटाणु फैले और सैकड़ों आदमी मर गए। वे वायरस युद्ध के प्रयोजन से नहीं, किसी और प्रयोजन से खोजे गए थे। किन्तु आज हजारों-हजारों वैज्ञानिकों और श्रमिकों का श्रम लग रहा है, बड़े-बड़े कारखाने चल रहे हैं जिनका प्रयोजन यही है कि ऐसे भयंकर वायरस पैदा किए जाएं जिससे कुछ क्षणों में ही समस्त मानवजाति को नष्ट किया जा सके। अब होने वाला युद्ध अणुशस्त्रों से नहीं लड़ा जाएगा। वह लड़ा जाएगा गैसों और कीटाणुओं से। विभिन्न प्रकार के कीटाणु बनाए जा रहे हैं, जिससे विभिन्न प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकें। युद्ध के मैदान में एक प्रकार के कीटाणुओं का विस्फोट किया जाएगा और सारे सैनिक भयंकर जुकाम से पीड़ित हो जाएंगे। उस स्थिति में शस्त्र चलाना उनके वश में नहीं रहेगा। वे नाक पोंछते ही रह जाएंगे। न जाने कितने प्रकार के वायरस पैदा किए जा रहे हैं! मूर्च्छा लाने वाले वायरस, बीमारियां पैदा करने वाले वायरस, दस्त लगाने वाले वायरस आदि-आदि। इनका उपयोग युद्ध क्षेत्र में होगा, इसीलिए वैज्ञानिक इनके उत्पादन में लगे हुए हैं।

यह भी कोई श्रम है? कर्मण्यता है? जिससे मनुष्यजाति का कल्याण न हो, वह वास्तव में कोई कार्य नहीं है। वह कर्मण्यता नहीं है।

बोधिधर्म चीन गए। वहां के सम्राट ने कहा-मैंने भगवान बुद्ध के उपदेशों के अनुसार जनहित के अनेक कार्य किए। मैंने कुएं खुदवाए, बगीचे लगाए, प्याऊ लगाई, जनता का दुःख दूर करने का प्रयास किया। क्यों महाराज! ये सारे पुण्य के ही तो कार्य हैं?

बोधिधर्म बोले-महाराज! ये सब कार्य उल्लासकारी हैं, कल्याणकारी नहीं। कल्याणकारी कार्य है शील का आचरण। तुम शीलवान बनो, समाधि का आचरण करो, प्रज्ञा का आचरण करो। यह सब कल्याणकारी है। यह कल्याणकारी श्रम है। तुमने उल्लासकारी श्रम किया है, कल्याणकारी नहीं।

आज दुनिया में विनाशकारी श्रम चल रहा है। यह इसीलिए कि लोगों ने ध्यान छोड़ दिया। चित्त को पवित्र और निर्मल बनाने वाले उपायों को छोड़ दिया। ध्यान कोरी एकाग्रता नहीं है। ध्यान का प्रयोजन है-चित्त को निर्मल बनाना। चित्त में जमे हुए कषाय के मैलों को धो डालना। चित्त को इतना निर्मल बना दिया कि उसमें कोई शत्रुता का प्रतिबिम्ब न रहे। भेद का प्रतिबिम्ब न रहे। उसमें तर्क का प्रतिबिम्ब भी न पड़े। चित्त इतना निर्मल बन जाए कि उसमें कोई कलुषता रहे ही नहीं।

ध्यान करना छोड़ दिया। शक्ति का उपयोग तो चल रहा है, किन्तु वह विनाशकारी या उल्लासकारी उपयोग मात्र है, कल्याणकारी नहीं। कल्याणकारी श्रम, कल्याणकारी कर्म और कल्याणकारी कर्मण्यता जो चाहिए, वह नहीं चल रही है।

ध्यान के द्वारा व्यक्ति में कर्मजाशक्ति जागती है, चेतना का जागरण होता है और दिशा बदल जाती है। फिर वह व्यक्ति प्राथमिकता देगा कल्याणकारी कर्म को। वह उल्लासकारी कार्य उतना ही करेगा, जितना आवश्यक है। वह विनाशकारी कर्म कुछ भी नहीं करेगा। जब तक समाज में ध्यान करने की प्रवृत्ति नहीं जायेगी, चित्त को निर्मल बनाने की प्रक्रिया हस्तगत नहीं होगी तथा चित्त के कषायों को सामाजिक संघर्षों में जमने वाले मैलों को, प्रतिक्रियाओं, विवादों और अवसादों को धो डालने की प्रक्रिया हाथ नहीं लगेगी तब तक कल्याणकारी कर्म सबसे कम होगा, उल्लासकारी कर्म उससे अधिक और विनाशकारी कर्म उससे भी अधिक होगा। यह तरतमता दोनों दिशाओं में है, इसका आप स्वयं अनुभव करें। जब दिशा स्पष्ट होगी तब स्वयं ज्ञात हो जायेगा कि ध्यान करने वाला निठल्ला या निकम्मा बनता है या वह ध्यान के द्वारा किसी विशिष्ट शक्ति और चेतना का जागरण करता है।

मैं मनुष्य हूँ (१)

आरोहण के लिए आलम्बन चाहिए। संस्कृत साहित्य में कहा गया है कि लता, पण्डित और स्त्री तीनों को आगे बढ़ने के लिए सहारा चाहिए, कोई आश्रय चाहिए। प्राणी विकास की प्रक्रिया से गुजरता है, उसे कोई आलम्बन चाहिए। 'मैं मनुष्य हूँ'—यह सबसे बड़ा आलम्बन है। हमारे जगत् में दो प्रकार के तत्त्व हैं—प्राणी और अप्राणी। जिसमें प्राणशक्ति होती है, जीवन-शक्ति होती है, प्राण का स्पन्दन और प्रकम्पन होता है, वह प्राणी है। एक ऐसा भी तत्त्व है जिसमें प्राण का प्रकम्पन नहीं है, वह अप्राणी है। हम प्राणी वर्ग में आते हैं। हम सांस लेते हैं। हमारा हृदय धड़कता है। हमारे में प्राण का प्रकम्पन होता है। प्राण हमारे जीवन का लक्षण है। जीवन एक बात है और विज्ञान उसका अलग चरण है। सभी प्राणी विज्ञान की चेतना को उपलब्ध नहीं होते। मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसे विज्ञान की चेतना उपलब्ध है। पुरानी भाषा में विज्ञान का अर्थ है—विवेक चेतना या अनुभव चेतना। आज की भाषा में विज्ञान का अर्थ है—विवेक चेतना या अनुभव चेतना का विकास या परिणामात्मक चेतना का विकास।

यह विज्ञान हर प्राणी को उपलब्ध नहीं होता, केवल मनुष्य को ही उपलब्ध होता है। हम मनुष्य हैं—यह एक बहुत बड़ा आलम्बन है ऊर्ध्वारोहण के लिए, चेतना के विकास के लिए। हमारी दो शक्तियाँ हैं—एक है प्राण की शक्ति, दूसरी है चेतना की शक्ति। ये दोनों शक्तियाँ मनुष्य को शेष सब प्राणियों से भिन्न करती हैं। वनस्पति जगत् से पशु-पक्षी जगत् तक जितने भी प्राणी हैं, उन प्राणियों से मनुष्य को भिन्न करने वाली शक्ति है चेतना का विकास, विवेक की शक्ति, अनुभव की शक्ति। मनुष्य ही विवेक कर सकता है और विशिष्ट प्रकार का अनुभव कर सकता है। हम मनुष्य हैं इसलिए चेतना के विकास के अधिकारी हैं।

भर्तृहरि ने मनुष्य और पशु के बीच में एक भेद-रेखा खींची। उन्होंने बताया—आहार, नींद, भय और मैथुन—ये चार सामान्य वृत्तियाँ हैं। ये पशु में भी होती हैं, मनुष्य में भी होती हैं। इनके द्वारा पशु और मनुष्य में कोई भी भेद नहीं किया जा सकता। उनके बीच कोई भेद-रेखा है तो वह है—धर्म। धर्म के द्वारा पशु और मनुष्य में भेद किया जा सकता है।

शब्द की अपनी शक्ति होती है। शब्द के अर्थ का विकास भी होता है, द्वास भी होता है। भाषा-विज्ञान के नियम को जानने वाले इस बात को जानते हैं कि

शब्द के अर्थ का उपक्रमण और अपक्रमण होता रहता है। अर्थ का परिवर्तन होता है। अर्थ का विकास और ह्रास होता है। आज धर्म शब्द का अर्थ कुछ बदल गया है। आज का आदमी धर्म शब्द की भाषा को कम समझने लगा है और वह शब्द कुछ रूढ़ियों के साथ जुड़ गया है। यदि हम नई भाषा में इस पर चिन्तन करें तो धर्म के स्थान पर हमें एक दूसरा शब्द खोजना होगा और वह शब्द हो सकता है—विज्ञान। मनुष्य और पशु में जो अन्तर है वह विज्ञान का अन्तर है। पशु में विज्ञान नहीं है। विवेक की चेतना नहीं है। मनुष्य में विज्ञान है, विवेक की चेतना है। यही पशु और मनुष्य में एक मौलिक अन्तर है। पशु प्राणशक्ति का अधिकारी है, उसमें प्राणशक्ति है, पर प्राणशक्ति का विकास वह नहीं कर सकता। आज तक वह नहीं कर पाया। एक पशु हजार वर्ष से बराबर भार ढो रहा है। वह बैलगाड़ी से जुता हुआ है, भार ढो रहा है किन्तु उसकी चेतना में कोई परिवर्तन नहीं आया। न यह प्रश्न उठा कि मुझ पर भार क्यों लादा जा रहा है? न यह प्रश्न उठा कि यह भार छूटना चाहिए। न उसने कोई क्रान्ति की कि मुझे भार-मुक्ति मिलनी चाहिए। यदि मनुष्य की चेतना पशु में होती और पशु विद्रोह करते, क्रान्ति करते तो मनुष्य के सामने समस्याएं पैदा हो जातीं। पर बेचारा गाड़ी से जुता बैल आज भी मार खा रहा है और वैसे ही जुता हुआ है जैसे पुराने जमाने में था। कोल्हू से जुता हुआ बैल आंखों पर पट्टी बांधे हुए वैसे ही चक्कर लगा रहा है जैसे हजार वर्ष पहले लगा रहा था। कोई विकास नहीं हुआ। न चेतना का विकास हुआ और न प्राणशक्ति का विकास हुआ। मनुष्य ने प्राणशक्ति का भी विकास किया और विवेकशक्ति का भी विकास किया। दो शताब्दियों पहले जो चिंतन था, आज वह चिंतन बहुत विकसित हो गया—सामाजिक समस्याओं के संदर्भ में। जीवन-प्रणाली और राजनीति के क्षेत्र में मनुष्य का प्रत्येक चरण आगे से आगे विकास करता चला जा रहा है। इसका कारण है कि उसमें विवेक की शक्ति है, विज्ञान की शक्ति है।

कोरा जीवन होना बड़ी बात तो है। अजीवन से जीवन होना, अप्राणी से प्राणी होना एक विकास है, बड़ी बात है किन्तु केवल जीवन होना, केवल प्राणी होना उतनी बड़ी उपलब्धि नहीं है जितनी बड़ी उपलब्धि है जीवन के साथ-साथ विज्ञान की चेतना का विकास होना। प्राणशक्ति के साथ-साथ चेतना की शक्ति का विकास होना और नये आयामों का उद्घाटन होना, नई दिशाओं का प्रस्फुटन होना, यह बहुत बड़ी बात है। मैं मनुष्य हूँ, इसमें ये दोनों बातें समायी हुई हैं। मैं मनुष्य हूँ इसलिए प्राणशक्ति का भी विकास कर सकता हूँ, प्राण के नये आयाम प्रस्फुटित हो सकते हैं और चेतना की नई दिशाएं भी उद्घाटित हो सकती हैं।

हमारे प्राण की अनेक धाराएं हैं, शक्तियां हैं। उनमें चार मुख्य होती

हैं—शरीर-बल, भाषा-बल, मनोबल और श्वास का बल। मनुष्य ने चारों बलों का, चारों शक्तियों का विकास किया है। शरीर-बल का विकास किया है। पशु में शरीर का बल बहुत होता है, किन्तु अपनी-अपनी स्थिति में जितना है, उतना ही रहता है। किन्तु मनुष्य बहुत विकास कर सकता है। बहुत तेज दौड़ में आगे बढ़ सकता है। भारोत्तोलन में वह शक्ति का कीर्तिमान स्थापित कर सकता है। अच्छा धावक, अच्छा भारोत्तोलक शरीर के विभिन्न करतब दिखाने वाला, गले के स्पर्श से सांकल तोड़ देने वाला, लोहे की बड़ी-बड़ी सांकल, जिसे हाथी भी न तोड़ सके, अपनी कटी से बांधकर उसे तोड़ देना—ये प्राणशक्ति की दिशा में, अपनी शक्ति की दिशा में मनुष्य ने विकास किया है। क्योंकि उसमें विवेक की चेतना और विकास की चेतना है, इसलिए वह हर दिशा में विकास की बात सोचता रहता है। एक मनुष्य में विवेक-चेतना नहीं होती तो पशु मनुष्य पर हावी हो जाता। ऊंट में जितना बल होता है, एक घोड़े में जितना बल होता है, एक बैसे में जो ताकत है उसके सामने मनुष्य के शरीर की कोई ताकत नहीं है। पर घोड़ा भी मनुष्य के वश में चलता है, हाथी भी मनुष्य के अधीन है, बैसा भी मनुष्य के अधीन है और मनुष्य सिंह को भी पिंजरे में डाल देता है। इसका कारण है कि उसकी चेतना में विकास की, निरन्तर प्रक्रिया चलती है। निरन्तर वह उपाय और समाधान खोजता रहता है और समस्याओं से निपटता रहता है। एक आदमी के मन में एक संकल्प जगा कि मुझे एक भारी भरकम सांड को हाथों पर उठाना है। कैसे संभव हो सकता है? कहां सांड का भार, कहां सांड की ताकत और कहां मनुष्य का भार और कहां उसकी शक्ति! कैसे संभव हो सकता है? बड़ी असंभव जैसी कल्पना लगी। किन्तु जब चेतना का आयाम खुलता है तो असंभव कल्पना भी संभव बन जाती है, कोई बात दुरूह नहीं होती। उपाय सोचा—बछड़ा जन्मा और पहले दिन उसको उठाया। उठा सकता था, संभव बात थी। दूसरे दिन उठाया, तीसरे दिन उठाया। निरन्तर उठाता रहा, उठाता रहा, उठाता रहा। इस निरन्तरता से उसने इतना विकास किया कि बछड़ा बड़ा सांड हो गया, तो भी उसे उठाने में कोई कठिनाई नहीं हुई। निरन्तरता एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है, बहुत मूल्यवान् बात है। पांच मिनट भी कोई व्यक्ति निरन्तर श्वास का अनुभव करता है और बीच में यदि कोई विकल्प न आये तो पांच मिनट के बाद ऐसा लगेगा कि शरीर को कोई चार्ज कर दिया गया है, बैटरी को इतना चार्ज किया गया है कि भीतर से प्रकाश की, प्राण की ऊर्जा की धाराएं दौड़ने लगी हैं। शक्ति का विस्फोट होने लग गया है। निरन्तरता में जो शक्ति होती है, वह कभी बूंद में नहीं होती। बिन्दुपात एक बात है और धारापात दूसरी बात है। बिन्दुपात होता है एक बूंद गिरी, दो मिनट के बाद फिर बूंद गिरी। पहली बूंद सूख

जाती है, दूसरी भी सूख जाती है, तीसरी भी सूख जाती है। पृथ्वी के ताप में और रेत में बूँदे सूखती चली जाती हैं। एक होता है धारापात। धारापात का अर्थ होता है—प्रवाह। धारा बहने लग जाती है और नाले का, नदी का बड़ा रूप ले लेती है। बिन्दुपात से शक्ति का विकास नहीं होता। शक्ति का विकास धारापात से होता है। बिन्दुपात में निरन्तरता नहीं होती और धारापात में निरन्तरता होती है। बिन्दुपात में अन्तराल आ जाता है। अन्तराल का अर्थ है—काल का व्यवधान। 'कालः पिबति तदरसं'—काल उसके रस को पी जाता है। जो रस होता था, बीच में समय, अन्तराल आ गया और पहले को काल पी गया, दूसरे को भी पी गया। जहाँ निरन्तरता होती है, धारापात होता है वहाँ काल उसके रस को पीता नहीं, किन्तु आगे बढ़ा देता है।

निरन्तरता का बहुत मूल्य है। निरन्तर अनुभव करना। जिस व्यक्ति ने श्वास का निरन्तर अनुभव करना सीख लिया, उसने शरीरबल, मनोबल और वाक्बल—वाणी के बल को विकसित करने का एक बहुत बड़ा रहस्य हस्तगत कर दिया।

आज सबसे बड़ी कमी यही आई है कि लोग निरन्तरता की बात को भूल गये, शक्ति के निरन्तर प्रवाह की बात को भूल गये। आज यहाँ के एक अधिकारी ने बताया कि वे एक वर्ष के खेलकूद कोर्स को विदेश में पूरा करके आये हैं। उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ कहा कि अब खेलकूद के साथ पश्चिम के लोगों ने योग को और जोड़ दिया है। बड़ी विचित्र बात है! अब खेलकूद का प्रशिक्षण लेने भी बाहर जाना पड़ता है और योग भी बाहर से सीखना पड़ता है। योग यहाँ से निर्यात हुआ और फिर यहाँ आयात करने की जरूरत पड़ गई। एक ही कारण है कि निरन्तरता किसी बात में नहीं रही, किसी बात में एकाग्रता नहीं रही। सब कुछ व्यवधान और व्यवधान। छूटा हुआ, छूटा हुआ; टूटा हुआ, टूटा हुआ। ऐसा लगता है जैसे हम धारा को भूल ही गये। प्रवाह को बिलकुल भूल गये। हमारी प्राण की धारा निरन्तर एक दिशा में प्रवाहित होती रहे तो आज खेलकूद के क्षेत्र में, शिक्षा के क्षेत्र में, विज्ञान के क्षेत्र में, हर क्षेत्र में भारतीय प्रतिभा बहुत निर्यात करने की स्थिति में आ सकती है। किन्तु निरन्तरता और एकाग्रता के अभाव में स्थिति यह है कि कभी-कभी भारत को स्वर्णपदक मिलता होगा, पर आज तो रजत और कांस्य पदक मिलने पर भी आश्चर्य होता है कि एक-दो तो मिला। साठ-सत्तर करोड़ आदमियों का देश और वहाँ की यह दयनीय स्थिति, बड़ा विचित्र-सा लगता है। परन्तु इसलिए कोई आश्चर्य नहीं होता कि उसका जो साधन था, मूल सूत्र था, वह तो हम खोते जा रहे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में भी यह समस्या है। अध्यापक हो या विद्यार्थी हो,

कोई भी हो, जितना अनुशासन का विकास, जितना चरित्र का विकास होना चाहिए, इसलिए नहीं हो रहा है कि न इच्छाशक्ति है, न संकल्पशक्ति है, न एकाग्रता की शक्ति है और न कोई निरन्तरता। केवल शब्द दिमाग पर लादे जा रहे हैं। ठीक है, शब्द का काम जितना है, उतना तो होगा। शब्द की जितनी शक्ति है और शब्द के माध्यम से जितना विकास होना है वह तो होगा। इसमें तो कोई सन्देह नहीं। किन्तु जो विशिष्टता आनी चाहिए, जो क्षमता आनी चाहिए, जो दक्षता आनी चाहिए वह कैसे आयेगी? कार्य होना एक बात है, कार्य की क्षमता का विकास होना दूसरी बात है और कार्य-क्षमता में दक्षता आना तीसरी बात है। वह दक्षता कैसे आयेगी? Efficiency कैसे बढ़ेगी? निपुणता का तो कोई प्रश्न ही नहीं होता। निपुणता पुस्तकें नहीं लाती, निपुणता चेतना लाती है। चेतना और पुस्तक दोनों का योग हो तब तो दक्षता बढ़ेगी, कोरी पुस्तक तो है पर चेतना की विशिष्टता वहां नहीं जुड़ रही है तो दक्षता सम्भव नहीं हो सकती। मूल प्रश्न है निरन्तरता का, एकाग्रता का।

उस व्यक्ति ने निरन्तर प्रयास किया। निरन्तर प्रयास का परिणाम यह हुआ कि भार उठाते-उठाते, बछड़े को उठाते-उठाते, एक दिन ऐसा आया कि उसकी शक्ति का इतना विकास हो गया कि भारी-भरकम सांड को भी उसने हाथों पर उठा लिया।

यह प्रयत्न-साध्य, विवेक-साध्य और चेतना-साध्य कार्य है। जापान में कराटे और जूडो का विकास हुआ। यह शरीर-बल का विकास है, इतना हाथ को मजबूत कर लिया जाता है कि तलवार का भी बार होगा, हाथ कटेगा नहीं। मनुष्य ही यह विकास कर सकता है। यह प्राणशक्ति का विकास है। प्राणशक्ति का ऐसा विकास होता है कि शस्त्र का प्रहार हो रहा है पर कोई असर नहीं हो रहा है। हमने आंखों देखा कि एक भाई ने श्वास भरा, श्वास को रोका और हाथ फैला दिया। दस आदमी लटक गये, पर हाथ तो टस से मस नहीं हुआ। यह प्राणशक्ति का विकास है। शरीर-बल का विकास मनुष्य ही कर सकता है, क्योंकि, उसमें विवेक है। शरीर-बल के बड़े अद्भुत विकास मनुष्य ने किए हैं। आज भी यह परम्परा लुप्त नहीं है, किन्तु उसके प्रति जो महत्त्व का भाव होना चाहिए, जो उसका मूल्यांकन होना चाहिए वह नहीं है। किस प्रक्रिया से शरीरबल को विकसित किया जा सकता है, बढ़ाया जा सकता है, हमारी यह चेतना शायद इतनी जागरूक नहीं है।

मनोबल का विकास भी बहुत अपेक्षित है। इतना अद्भुत मनोबल कि कठिन से कठिन समस्या आ जाने पर भी घुटने नहीं टिकते। थोड़ी-सी समस्या है, आदमी घुटने टेक देता है। यह बहुत बड़ी समस्या है। अधिक लोग ऐसे मिलेंगे कि

समस्या न आये तब तक तो सब ठीक है, समस्या आई और घुटने टिकने में देर नहीं लगती। इसका कारण है कि मनोबल नहीं है। इतना क्षीण है मनोबल कि सहिष्णुता का विकास नहीं है। किसी भी स्थिति में रहने की क्षमता नहीं है। हम जिस दुनिया में जीते हैं, वहां अनुकूलता भी है, प्रतिकूलता भी है। वह गर्मी है प्रतिकूलता, वह सर्दी है अनुकूलता। दोनों हैं। एक स्थिति कभी नहीं हो सकती। न कभी सर्दी का एकाधिकार हमारे यहां है और न ही गर्मी का एकाधिकार। दोनों बराबर चलते हैं। हम अपनी शक्ति का ऐसा विकास करें कि सर्दी को सह सकें, गर्मी को भी सह सकें। सर्दी को सहना भी बड़ा कठिन होता है, गर्मी को सहना भी बड़ा कठिन होता है। अनुकूलता को सहना भी बड़ा कठिन काम है और प्रतिकूलता को सहना भी कठिन काम है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है प्रतिकूल परिस्थिति की अपेक्षा अनुकूल परिस्थिति को सहना और ज्यादा कठिन काम है। जब मनुष्य के सामने अनुकूलता आती है तब आवेग बढ़ जाता है, अहंकार बढ़ जाता है। आदमी उसे सहन नहीं कर पाता। बहुत बार ऐसा भी होता है कि एक साथ अधिक अनुकूलता आने पर आदमी अपने आपको भूल जाता है। कभी-कभी प्राण वियोग भी कर लेता है।

अनुकूलता को सहना भी बड़ा कठिन होता है। हम लोग द्वेष को तो फिर सह लेते हैं पर राग को नहीं सह पाते। अप्रिय संवेदनों को झेल लेते हैं पर प्रिय संवेदन को झेलना बहुत कठिन होता है। हमारी शक्ति का ऐसा विकास हो, जिसमें हम अनुकूलता और प्रतिकूलता दोनों को झेल सकें। मनोबल का इतना विकास हो जाए कि अनुकूलता के सामने घुटने न टिके और प्रतिकूलता के सामने भी घुटने न टिके। ऐसे मनोबल का विकास हो सकता है। भारतीय चेतना में शरीर-बल और मनोबल के विकास की बहुत घटनाएं घटित हुई हैं और ऐसा अदभुत मनोबल कि जिसकी सामान्य आदमी कल्पना भी नहीं कर सकता। यदि हिन्दुस्तान के पास मनोबल नहीं होता तो इतने बड़े साम्राज्य से अशस्त्र होकर लड़ना और अपनी शताब्दियों से खोये हुए वैभव को, स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त कर लेना कोई सामान्य घटना नहीं है, विशिष्ट घटना है और केवल मनोबल के आधार पर ही इसमें बहुत बड़ा काम हुआ है। और भी कुछ परिस्थितियां हो सकती हैं पर उन सारी परिस्थितियों में मनोबल का बहुत बड़ा योग है। हम मनोबल का भी ठीक मूल्यांकन नहीं कर रहे हैं।

वाणी का बल बड़ा ही अदभुत होता है। हमारी प्राणधारा यदि वाणी के साथ जुड़ जाये और वाणी का बल बढ़े तो एक व्यक्ति के मुंह से निकलने वाली बात विफल नहीं हो सकती। हमारे यहां वचनसिद्धि मानी गई है। वचन की सिद्धि जिस

व्यक्ति को होती है, उसके मुँह से जो बात निकल जाती है, वह घटित होती है। यानी पदार्थ-जगत् प्रभावित होता है, परमाणुओं में एक हलचल हो जाती है और उन परमाणुओं को बदलना ही पड़ता है और वैसी घटना को घटित होना पड़ता है। आज भी ऐसे लोग मिलते हैं कि जिनके मुँह से कोई वचन निकल गया, वह बात होती ही है। वचन में इतनी बड़ी शक्ति आ जाती है। यह भी प्राणशक्ति के विकास के द्वारा संभव है, प्राणशक्ति जुड़ जाये तो शरीर का बल कल्पनातीत बढ़ जाता है। प्राण की धारा जुड़ जाए तो वाणी का बल बढ़ जाता है और प्राणशक्ति की धारा जुड़ जाये तो मन का बल भी बढ़ जाता है। प्राण की धारा जुड़ जाये तो श्वास का बल भी बढ़ जाता है। आज तो हमारी स्थिति यह है कि श्वासबल की बात तो दूर रही, श्वास को सम्यक् लेना भी नहीं जानते। सम्यक् श्वास का लक्षण है कि पेट फूलना चाहिए। सीना फूले, यह कोई सम्यक् श्वास का लक्षण नहीं है। सीना तो अपने आप फूलेगा, किन्तु श्वास के कम्पन पेट तक जाएं। जो हमारी मांसपेशी है तनुपट, वह थोड़ा नीचे जाये और श्वास लेते समय पेट फूले और छोड़ते समय सिकुड़े। जब हम श्वास ब्रेते हैं तब छह-सात लीटर हवा पेट में जाती है। इतनी हवा जाती है और उस हवा का दबाव जब नीचे जाता है तो पेट फूलेगा और छोड़ेंगे तब सिकुड़ेगा। बिलकुल सामान्य-सी बात है। पर सम्यक् श्वास भी हमारे जीवन में नहीं है। जब श्वास सम्यक् नहीं है, श्वास का बल नहीं है तो ईंधन के बिना चूल्हा प्रज्वलित नहीं होता, शरीरबल, मनोबल, वाक्बल, यह शक्ति का चूल्हा तब जलेगा जब उसे श्वास का ईंधन मिलेगा। ऑक्सीजन मिलेगी, प्राणवायु प्रज्वलित होगी तब यह चूल्हा जलेगा। मूल बात शरीरबल नहीं है, मूल बात वाणी और मनोबल नहीं है। आधारभूत मौलिक बात है श्वास का बल, सम्यक् श्वास।

श्वास सम्यक् होगा तो शरीर की शक्ति बढ़ जायेगी। आप प्रयोग कर सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं कि किसी भी अवयव को मजबूत करना है, किसी भी अवयव को निरोग करना है, बीमारी को मिटाना है तो दस मिनट का समय लगायें। निरन्तर दीर्घश्वास लें, श्वास का संयम करें और चित्त को उसी अवयव पर टिका दें जिसे हम निरोग करना चाहते हैं, शक्तिशाली बनाना चाहते हैं। कुछ दिनों बाद आप देखेंगे कि उस अवयव की ताकत बढ़ रही है, शक्ति का विकास हो रहा है और उस अवयव की रुग्ण अवस्था, कमजोरी समाप्त होती जा रही है। एक-दो दिन में चाहेंगे तो बड़ी असंभव बात लगेगी। निरन्तर करें, लम्बे समय तक करें। आपको निश्चित अनुभव होगा कि परिवर्तन हो रहा है। उसमें श्वास का योग, ईंधन का योग जरूर चाहिए। ईंधन की तो आज सारी समस्या है, ऊर्जा की आज समस्या है। यदि ऊर्जा के बिना प्रकाश होता तो आज ऊर्जा के क्षेत्र में इतने

अनुसंधान नहीं चलते। आज सारे संसार में ऊर्जा पर कितने अनुसंधान हो रहे हैं! ऊर्जा के नये-नये स्रोत खोजे जा रहे हैं। हमारी बिजली ऊर्जा के आधार पर चलती है। चूल्हे ऊर्जा के आधार पर जलते हैं। यदि ऊर्जा नहीं होती तो रोटी भी नहीं पकती, प्रकाश भी नहीं मिलता, पंखे भी नहीं चलते और हवा भी नहीं मिलती। सबके लिए ऊर्जा के स्रोत चाहिए। यह श्वास हमारी प्राणिक ऊर्जा का स्रोत है। जब तक इस स्रोत को नहीं खोज लिया जाता और इस स्रोत को नहीं समझ लिया जाता, तब तक ये चूल्हें, चाहे शरीर को पकाने वाले हों, चाहे मन को पकाने वाले हों और चाहे वाणी को पकाने वाले हों ये कभी जल नहीं सकते। इसलिए हमें सबसे पहले ध्यान केन्द्रित करना होता है श्वास की ऊर्जा पर।

श्वास की शक्ति जागे, श्वास का बल बढ़े। दीर्घश्वास का प्रयोग श्वास की शक्ति बढ़ाने का प्रयोग है। जो आदमी छोटा श्वास लेता है वह आदमी श्वास बल को विकसित नहीं कर सकता, सम्यक् श्वास कहां है? छोटा श्वास चलता है, बहुत छोटा श्वास। एक मिनट में कुछ लोग २२-२३ श्वास भी लेने लग जाते हैं, बहुत छोटा श्वास लेते हैं। गति होनी चाहिए मन्द श्वास की दिशा में, और हो रही है तीव्रश्वास की दिशा में। श्वास की गति मन्द होगी, श्वास लम्बा होता चलेगा, संख्या घटती जाएगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या घटेगी, जीवनशक्ति बढ़ेगी, दीर्घायु होगा आदमी, शरीर की शक्ति बढ़ेगी, प्राण की शक्ति बढ़ेगी। जैसे-जैसे श्वास की संख्या बढ़ेगी आयु कम होगी, शक्ति का खर्च ज्यादा होगा। हम जागते समय जितने श्वास लेते हैं नींद में उससे ज्यादा श्वास लेने लग जाते हैं। जहां जागते समय १५-१६ श्वास लेते हैं वहां नींद में २०-२२ श्वास हो जायेंगे। आवेग की स्थिति में श्वास और बढ़ जाते हैं। इसका अर्थ है कि जीवनशक्ति का क्षरण होने लग जाता है। हमारी शक्ति का व्यय अतिरिक्त होने लग जाता है। जो आदमी स्वस्थ जीवन जीना चाहता है, दीर्घायु होना चाहता है, अकाल मृत्यु नहीं चाहता, अपने शक्ति भण्डार को जल्दी से खाली करना नहीं चाहता, उसके लिए दीर्घश्वास का प्रयोग सबसे महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान है। यदि दीर्घश्वास का अभ्यास करें, श्वास की संख्या को घटायें-१५ की स्थिति से १०-८-७-५-२ तक ले जायें तो अपने आप श्वास का बल बढ़ेगा, शक्ति का व्यय बहुत रुक जायेगा।

आज के शिक्षा जगत् में एक बड़ी भ्रान्ति चल रही है। वह यह कि हम विज्ञान के इतिहास को चार सौ वर्षों का इतिहास मान रहे हैं और पश्चिमी लोगों को ही वैज्ञानिक मान रहे हैं। भारतीय लोगों को तो हम वैज्ञानिक मानते ही नहीं हैं। कहां किसी का नाम आता है? हमारे यहां सैकड़ों वैज्ञानिक हुए हैं। उन्होंने बड़ी वैज्ञानिक खोजें कीं। पर इतिहास में उनका उल्लेख नहीं है। अब मुश्किल से कुछ

नाम आने लगे हैं। कुछ विश्वविद्यालयों में इस वैज्ञानिक इतिहास के साथ भारतीय वैज्ञानिकों के नाम भी जुड़ने लगे हैं और प्राचीन वैज्ञानिकों की खोज का विभाग भी कहीं-कहीं खुला है। परन्तु पुराने लोगों को हम वैज्ञानिक तो मानते ही नहीं हैं।

प्राचीन भारतीय वैज्ञानिक योगियों ने कितनी बड़ी अद्भुत खोज की थी कि आज तक इतना विकसित होने पर भी मेडिकल साइन्स वह खोज नहीं कर पाया है। हमारे नाड़ी-संस्थान में दो प्रकार के सिस्टम हैं। एक है वोलेंटरी और दूसरा है ऑटोनर्वस-स्वतःचालित और इच्छाचालित। इच्छाचालित नाड़ी-संस्थान के द्वारा भी बहुत शक्ति का व्यय होता है। यहां खोज यह हुई थी कि हम स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान पर भी नियन्त्रण कर सकते हैं। श्वास को रोक सकते हैं, शरीर के तापमान को कम कर सकते हैं, जो चयापचय की क्रिया है उसको भी हम धीमी कर सकते हैं। हृदय की घड़कन को रोक सकते हैं और कम कर सकते हैं। जितने स्वतःचालित हमारे कार्य हैं, उन पर भी नियन्त्रण स्थापित कर सकते हैं। उन पर नियन्त्रण करने का अर्थ होता है शक्ति के व्यय को रोक देना।

आज एक ऐसी खोज हो रही है और निकट भविष्य में विकास में आने वाली बात है कि आदमी को शीतीकरण की प्रक्रिया से जमा दिया जाएगा। जीते आदमी को शीतीकरण की प्रक्रिया से बर्फ के जैसे जमा दिया जाएगा। पांच वर्ष, दस वर्ष, पचास वर्ष जितना चाहें, कोल्डस्टोरेज में जैसे फल पड़े रहते हैं, वैसे पड़ा रहेगा। और जब चाहें कि पुनर्जीवित करना है, उसको गर्म किया, फिर वह सक्रिय हो उठेगा। उसकी आयु ५० वर्ष की और बढ़ गई। यानी उसकी जीवनशक्ति को पचास वर्ष जीवित रख दिया। शक्ति-व्यय को बचा लिया, रोक दिया। यही तो प्रक्रिया थी। स्वतःचालित नाड़ी-संस्थान को बन्द कर दिया और जीवनी शक्ति का उतना काल हमने बढ़ा लिया। बहुत महत्त्वपूर्ण खोज थी, हमने भुला दिया। बिलकुल ही भूल गए। हम आज न श्वास-संयम जानते हैं, न नाड़ी पर नियंत्रण जानते हैं, न तापमान को घटाना जानते हैं, न चयापचय की क्रिया को कम करना जानते हैं। इन सारी क्रियाओं को निरर्थक समझ कर हमने भुला दिया है।

हम कुछ अतीत में लौटें। वर्तमान में जीना बहुत अच्छा है। वर्तमान का बोध बहुत आवश्यक है, किन्तु केवल वर्तमान से ही काम नहीं चलता। ध्यान की प्रक्रिया वर्तमान में जीने की प्रक्रिया है। यह ठीक है कि आदमी जितना वर्तमान में जीएगा, उसकी शक्ति उतनी ही बढ़ेगी। किन्तु केवल वर्तमान से ही तो हमारा काम नहीं चल सकता। अतीत में भी कभी लौटना होता है, भविष्य में भी जाना होता है। हमारा जीवन, स्मृति, चिन्तन और कल्पना—इन तीनों के आधार पर चलता है। कोरी स्मृति, कोरा चिन्तन और कोरी कल्पना काम नहीं देती। स्मृति अतीत में

लौटने की प्रक्रिया है। कल्पना भविष्य में जीने की प्रक्रिया है और चिन्तन वर्तमान में जीने की प्रक्रिया है। इन तीनों का समन्वय चाहिए। अतीत में लौटने की बात भी सर्वथा व्यर्थ नहीं है। हम अतीत में भी लौटें और ध्यान दें कि किन उपायों के द्वारा हमने शक्ति का विकास किया था।

मैं प्राणशक्ति के विकास की चर्चा कर रहा हूँ। प्राणशक्ति का विकास तीन धाराओं में चले—शरीर की शक्ति, वाणी की शक्ति और मन की शक्ति। उन तीनों धाराओं को विकसित करने के लिए श्वास का बल बढ़े और श्वास-बल को बढ़ाने का एक उपाय हो सकता है—दीर्घश्वास का प्रयोग। जैसे-जैसे दीर्घश्वास का अभ्यास बढ़ेगा तो शिक्षा का एक नया आयाम खुलेगा। विद्यार्थी के जीवन में एक नई दिशा उद्घाटित होगी कि वह विद्यार्थी केवल बौद्धिक विकास वाला विद्यार्थी नहीं होगा। बौद्धिक विकास बहुत जरूरी है पर कोरा बौद्धिक विकास पर्याप्त नहीं है। उसके साथ और भी विकास चाहिए। बुद्धि का विकास तो बहुत है, शरीर साथ नहीं देता। क्या होगा? आज ही हमने एक व्यक्ति को देखा जिसके पास धनबल बहुत है। करोड़ों की सम्पत्ति है पर शरीर बिलकुल बेकार हो रहा है। कितना रुग्ण हो रहा है? मैंने अपने सहवर्ती मुनि से कहा कि इतना धन है, पर यह तो निरन्तर दुःख अनुभव कर रहा है, किस काम की होगी यह सम्पत्ति? एक बात से हमारा जीवन कभी परिपूर्ण नहीं होता, समग्रता चाहिए। बौद्धिक विकास की बात बहुत अच्छी है किन्तु उसके साथ-साथ शरीरबल, मनोबल और वचनबल का भी विकास होना चाहिए। उनके विकास का पहला सूत्र है—श्वासबल का विकास और श्वास-बल के विकास का पहला सूत्र है—दीर्घश्वास का प्रयोग।

मैं मनुष्य हूँ (२)

मनुष्य की विशिष्टता का एक हेतु है—चेतना विकास का बोध और उसकी क्रियान्विति। प्राणी जगत् में चेतना है, किन्तु चेतना का विकास का बोध नहीं है और करने की क्षमता भी नहीं है। उसके पास कोई साधन भी नहीं है। मनुष्य ने निरन्तर अपनी चेतना का विकास किया है। उसे चेतना-विकास का बोध भी है और उसके पास विकास का साधन भी है।

दो स्तर हैं—एक है—संवेदन का स्तर और दूसरा है—चेतना का स्तर। प्राणियों में प्रधानतया संवेदना होती है। वे संवेदन के स्तर पर जीते हैं। उनमें संवेदना अधिक और ज्ञान कम होता है। मनुष्य में संवेदना और ज्ञान—दोनों होते हैं। संवेदना पर नियंत्रण करना और ज्ञान का विकास करना—यह मनुष्य की मौलिक विशेषता है। पशु केवल संवेदन करता है। वह सुख-दुःख भोगता है, किन्तु उसमें ज्ञान का विकास नहीं है। सुख-दुःख के अनुभव से परे जा सके वैसी चेतना का विकास उसमें नहीं है। पशु में जो है वह सहज संयम है, किन्तु संयम का विकास नहीं है, संयम विकास की चेतना भी नहीं है। पशु के सामने चारा आएगा, खाद्य आएगा, भूख होगी तो खा लेगा। भूख नहीं है तो नहीं खाएगा। किन्तु भूख होने पर भी न खाए, यह चेतना उसमें नहीं है। भूख होने पर खाना, भूख न होने पर न खाना और भूख होने पर भी न खाना—ये तीन बातें हैं। पशु में यह तीसरी बात नहीं है। यह सही है कि पशु भूख लगने पर ही खाते हैं, भूख के बिना नहीं खाते। पर मनुष्य की चेतना ने यह भी विकास किया है कि भूख लगने पर भी नहीं खाता और भूख न लगने पर भी खा लेता है।

एक डॉक्टर ने भोज का आयोजन किया। नगर में सभ्रान्त व्यक्ति भोज में सम्मिलित हुए। भोज के प्रारम्भ में डॉक्टर ने कहा—सबके सामने भोजन परोस दिया गया है। भोजन प्रारम्भ करने से पूर्व हम सब एक बात सोच लें कि हमें पशु की तरह खाना है या मनुष्य की तरह। सारे लोग असमंजस में पड़ गए। वे डॉक्टर के आशय को समझ नहीं सके। डॉक्टर ने अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कहा—पशु की तरह खाने का तात्पर्य है जितनी भूख है उतना खाना और मनुष्य की तरह खाने का तात्पर्य है, भूख न होने पर भी खाते जाना।

भूख होने पर भी न खाना—मनुष्य की अपनी विशेषता है। उपवास का विकास इसी मौलिक विशेषता के आधार पर हुआ है। भूख है, फिर भी आदमी दो दिन का उपवास, पांच-दस दिन का उपवास, चालीस-पचास दिन का उपवास कर

लेता है। कुछ भी नहीं खाता। संयम कर लेता है। संयम चेतना के विकास का एक बिन्दु है। जैसे-जैसे मनुष्य आगे बढ़ा है, वैसे-वैसे उसने संयम की चेतना का विकास किया है, विवेक का विकास किया है।

प्राणी की एक विशेषता है—इच्छाशक्ति। यदि हम दार्शनिक दृष्टि से सोचें—प्राणी का सीधा-साधा लक्षण क्या हो सकता है तो यह स्पष्ट होगा—चिन्तन, स्मृति और कल्पना—यह प्राणी का लक्षण नहीं बन सकता। जो चिन्तन करता है, जिसमें स्मृति है और जो कल्पना कर सकता है, वह प्राणी है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। चिन्तन, स्मृति और कल्पना अप्राणी में भी होती है। अचेतन में स्मृति है, चिन्तन है और कल्पना है। कम्प्यूटर इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। आज का विकसित कम्प्यूटर स्मृति का बहुत बड़ा माध्यम है। आज के लोग तथ्यों और आंकड़ों को याद रखने के शंझट में नहीं जाते, वे सारे तथ्य और आंकड़े कम्प्यूटर में डाल देते हैं और जब आवश्यकता होती है तब बटन दबाकर उनको प्राप्त कर लेते हैं। तथ्य और आंकड़े ज्यों के त्यों सामने आ जाते हैं। न विस्मृति का भय और न तथ्यों के खो जाने का भय। सब कुछ निश्चित।

कल्पना की चेतना भी आज कम्प्यूटर में सन्निहित है। कम्प्यूटर रोग का निदान भी करेगा और औषधि का सुझाव भी देगा। स्वास्थ्य के लिए अनुकूल और प्रतिकूल दोनों तथ्य प्रस्तुत करेगा। वह केवल निदान ही नहीं करता, रोगोपशमन का उपाय भी करता है।

कम्प्यूटर चिन्तन भी करता है। वह कविता भी करता है, लेख भी लिखता है।

स्मृति, चिन्तन और कल्पना—यह प्राणी का लक्षण नहीं बन सकता। लक्षण वह होता है जो लक्ष्य में ही प्राप्त हो, लक्ष्य से परे प्राप्त न हो। जो लक्ष्य से अतिरिक्त में भी प्राप्त होता है, वह उस वस्तु का लक्षण नहीं बन सकता।

प्राणी का लक्षण है—इच्छाशक्ति। यह ऐसा लक्षण है जो चेतन में ही मिलता है, अचेतन में नहीं मिलता। कम्प्यूटर अचेतन है। उसमें और बहुत सारी बातें मिलती हैं किन्तु इच्छाशक्ति नहीं मिलती। इच्छा का उदय केवल चेतन में ही होता है।

मनुष्य प्राणी है। उसमें इच्छा है। पशु-पक्षी भी प्राणी है। उनमें भी इच्छा है। जैसे-जैसे चेतना का विकास हुआ, मनुष्य ने इच्छा संयम का सूत्र सीखा। उसने परिज्ञा सीखी, विवेक सीखा। ये दो शब्द दो छोर पर हैं। एक शब्द है इच्छा और दूसरा शब्द है परिज्ञा या विवेक। इच्छा होना एक बात है विवेक करना दूसरी बात है। परिज्ञा दो प्रकार की होती है। एक है जानने वाली परिज्ञा और दूसरी है

प्रत्याख्यान करने वाली परिज्ञा, छोड़ने वाली परिज्ञा। जानना ठीक है, किन्तु छोड़ना, त्याग करना, प्रत्याख्यान करना—यह चेतना का बहुत बड़ा विकास है। जिसमें ज्ञान की क्षमता है, वह घटना को जान लेता है। घटना को जान लेना एक बात है, किन्तु जानने के साथ-साथ घटना में बहना, उसे न भोगना, यह दूसरी बात है। यह चेतना का नया आयाम है, चेतना का बड़ा विकास है।

मनुष्य दो प्रकार के होते हैं—ज्ञाता और भोक्ता। कुछ मनुष्य ज्ञाता भी होते हैं और भोक्ता भी होते हैं। कुछ मनुष्य ज्ञाता हैं पर भोक्ता नहीं होते हैं। जानना और भोगना—यह प्राणी का सामान्य लक्षण है।

पशु पर किसी ने आक्रमण किया, प्रहार किया। उसे पीटा। पशु भी आक्रोश में आ जाएगा, क्योंकि उसने घटना को जाना है, भोगा है, इसीलिए उसमें प्रतिक्रिया होती है। पशुओं में घोर प्रतिशोध की भावना होती है। ऊंट और भैंस में प्रतिशोध की तीव्र भावना होती है। वर्षों बाद भी वे प्रतिशोध लेते हैं। यह भावना इसीलिए पैदा होती है कि वे घटना को जानते हैं, भोगते हैं।

प्राणी की सामान्य प्रकृति है—घटना को जानना और भोगना। किन्तु जिन प्राणियों में चेतना का विकास हुआ, उन्होंने इस दिशा में और अधिक विकास किया कि घटना को जान लेना किन्तु उसे भोगना नहीं। ज्ञाता मात्र रह जाना, भोक्ता नहीं बनना। यह बड़ा विकास है। साधना के द्वारा चेतना को नया आयाम दिया गया—घटना के साथ-साथ बहना नहीं घटना को भोगना नहीं, घटना को मात्र जान लेना।

ध्यान का, दर्शन या प्रेक्षा का तात्पर्य है घटना को जान लेना, अनुभव कर लेना।

प्रेक्षा-ध्यान के अन्तर्गत हम शरीर-प्रेक्षा का अभ्यास करते हैं। प्रश्न होता है शरीर को क्या देखना? हमें शरीर को नहीं देखना है। शरीर के रंग-रूप को नहीं देखना है, आकार-प्रकार को नहीं देखना है। शरीर में होने वाली घटनाओं को देखना है। हमारा शरीर एक पदार्थ है, वस्तु है। जो वस्तु है उसमें विविध प्रकार की घटनाएं घटित होती रहती हैं। हमारे शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते हैं। शरीर में ऊर्जा के द्वारा नाना प्रकार के परिवर्तन होते रहते हैं। विविध पर्याय उदित होते हैं। तापमान घटता-बढ़ता है। इस प्रकार के और भी अनेक परिवर्तन होते हैं। इन सब परिवर्तनों को जानना, उनके प्रति जागरूक होना, यह चेतना का बड़ा विकास है।

हमारे ध्येय दो होते हैं—बाह्य जगत् यानी वस्तु जगत् और अन्तर्जगत् यानी चेतना जगत्। हम बाहरी जगत् को भी जानते हैं, उसमें होने वाले परिवर्तनों को

भी जानते हैं। वैसे ही हम अन्तर्जगत् में होने वाले परिवर्तनों और परिणामों को भी जान सकते हैं। किन्तु जो व्यक्ति ध्यान के अभ्यास से नहीं गुजरता, वह सदा बाह्य जगत् के परिवर्तनों को जानेगा, भीतर में होने वाले परिवर्तनों को नहीं जान पायेगा। जब बाह्य जगत् ही ध्येय बना रहता है तब बहिर्मुखता बनी रहती है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि जब तक व्यक्ति बहिर्मुख होता है तब तक उसका ध्येय वस्तु जगत् ही बना रहता है। अन्तर्मुखता के बिना आन्तरिक जगत् को ध्येय बनाने के साथ-साथ अंतर्जगत् को भी ध्येय बना लेना। श्वास से होने वाले परिवर्तनों और परिणामों को जानना, शरीर में होने वाले परिवर्तनों और परिणामों को जानना—यह प्रेक्षाध्यान की प्रक्रिया है। इससे आगे बढ़ने का रास्ता सरल बन जाता है। ये सारी प्रक्रियाएं भारतीय योग की थाती थीं। लोगों ने इनको विस्मृत कर दिया। आज पश्चिम के लोग यंत्रों के माध्यम से अपने अन्तर्जगत् को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं। वे “बायोफीडबेक” पद्धति के द्वारा अपने भीतर होने वाली घटनाओं और परिवर्तनों को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं और फिर उन्हें बदलने का प्रयत्न कर रहे हैं। तापमान को घटाना, बढ़ाना, नाड़ी की गति को तीव्र करना या मन्द करना, फिर उनके लिए सरल बन जाता है। जहां दर्द है, उसका अनुभव करना, उसको कम करना, यह संभव है। भीतर में असंख्य घटनाएं घटित होती रहती हैं, परन्तु ध्यान के बिना उन्हें पकड़ा नहीं जा सकता। यह सही है कि आदमी निकट में होने वाली घटनाओं को नहीं देखता, जानता। प्रचलित कहावत है—आदमी पर्वत पर लगी आग को देख लेता है, पर पैरों तले जल रही आग को नहीं देख पाता। आदमी बाह्य जगत् से जितना परिचित है उतना ही वह आंतरिक जगत् से अपरिचित है। आदमी अपने अस्तित्व से भी अपरिचित है। वह अपने आपको नहीं जानता।

आदमी अपने अस्तित्व के साथ संपर्क स्थापित कर सकता है। उसकी भी एक प्रक्रिया है। बिना उस प्रक्रिया से गुजरे, हजार प्रयत्न करने पर भी कोई अपने अस्तित्व को नहीं जान सकता। उस प्रक्रिया का पहला हेतु है—स्वार्थ। स्वार्थ बाहर भी जाता है और भीतर भी जाता है। वह उभयमुखी सेतु है। वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् के माध्यम का सेतु है। जो व्यक्ति बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में प्रवेश पाना चाहता है उसे इस मध्यवर्ती सेतु का उपयोग करना ही होगा।

अन्तःप्रवेश का दूसरा माध्यम बनता है—शरीर। शरीर को देखना, जानना एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। शरीर को देखने का अर्थ यह नहीं है कि शीशे के सामने खड़े होकर अपनी प्रतिछाया को देखना, रूप-रंग को देखना, आकार-प्रकार को देखना। इनको देखना खुली आंखों से होता है। शरीर-प्रेक्षा की क्रिया बन्द

आंखों से की जाने वाली प्रक्रिया है। न शीशे के सामने खड़े होना है, न प्रतिबिम्ब को देखना है और न आंखें खुली रखनी है। किन्तु हम खुली आंखों से देखने के अभ्यासी हैं। प्रतिबिम्बों को देखते-देखते हमारी चेतना भी प्रतिबिम्ब की चेतना बन गई है। मूल चेतना खो गई। प्रतिबिम्ब और परछाइयों की चेतना हस्तगत हो गई। हम परछाई को पकड़ना चाहते हैं। सामान्यतः परछाई पकड़ में नहीं आती। उसको पकड़ने के भी उपाय हैं।

एक बालक धूप में खड़ा था। अपनी परछाई को देखकर उसके मन में कुतूहल हुआ। वह परछाई में दीख रही अपनी चोटी को पकड़ने दौड़ा। परछाई भी दौड़ने लगी। बालक दौड़ता रहा, पर परछाई को पकड़ नहीं पाया। वह थक कर चूर हो गया। इतने में पिता ने उसे देख लिया। वे आए। बालक बोला—मैं परछाई में दीख रही चोटी को पकड़ना चाहता हूँ, पर वह पकड़ में आती ही नहीं। पिता ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—अभी पकड़ में आ जाएगी। तुम दौड़ो मत, ठहर जाओ। बालक ठहर गया। पिता ने उसका हाथ पकड़ा, हाथ को सिर पर ले जाकर चोटी पकड़वा दी। अब परछाई की चोटी भी बालक के हाथ में थी।

परछाई या प्रतिबिम्ब को नहीं पकड़ा जा सकता। जब मनुष्य की चेतना प्रतिबिम्बों की चेतना बन जाती है तब भ्रम उत्पन्न होते हैं, अनेक भ्रांतियां पनपती हैं।

ध्यान की साधना यथार्थ की साधना है, प्रतिबिम्ब से परे जाने की साधना है। हम प्रतिबिम्बों में ही उलझते न रहें, मूल तक पहुंचने का प्रयत्न करें। वर्तमान जीवन की समस्याएं, फिर वे सामाजिक हों या आर्थिक, सामूहिक हों या वैयक्तिक, प्रतिबिम्बों के आसपास चक्कर काटती हैं। यदि यथार्थ को पकड़ा जा सके तो अनेक समस्याओं का समाधान पाया जा सकता है। आज की स्थिति यह है कि मूल निर्मूल्य हो रहा है और प्रतिबिम्ब मूल्यवान माना जा रहा है—

मूलस्पर्शो न खलु सुलभो दृष्टिरेषास्ति मुग्धा,

प्रायो लोकः प्रतिकृतिरतो मूल्यदाने विचक्षुः।

चित्रं मूल्यं नयति विपुलं चैकतश्चित्रकक्षे,

यस्या नार्या मुहुरवमता भिक्षते चैकतः साः।

एक कलाकार ने गांव की एक सुन्दर स्त्री का चित्र चित्रित किया। कालान्तर में उसने उस चित्र को अपनी चित्र-प्रदर्शनी में रखा। एक व्यक्ति ने उसे दस हजार में खरीद लिया। वह चित्र लेकर बाहर आया। एक भिखारिन भीख मांग रही थी। उसने उसे दुत्कारा। उस भिखारिन की दृष्टि चित्र पर पड़ी। उसी का वह चित्र था। मूल को दुत्कार मिल रही है और प्रतिबिम्ब दस हजार का मूल्य पा रहा है।

ध्यान का अर्थ है—यथार्थ का अनुभव। इसमें कल्पना की आवश्यकता ही नहीं है। श्वासप्रेक्षा में श्वास का अनुभव करते हैं। यह यथार्थ है। इसमें कल्पना को अवकाश नहीं है। शरीर प्रेक्षा में, शरीर में घटित होने वाले परिवर्तनों का अनुभव करते हैं। यह यथार्थ है, इसमें कल्पना की जरूरत ही नहीं है। ध्यान में यथार्थ के साथ-साथ चलना है। कल्पना का भी अपना मूल्य होता है, किन्तु यथार्थ को छोड़कर केवल कल्पना में ही बहते जाना उचित नहीं है। इस स्थिति में कल्पना भी भंयकर बन जाती है। यथार्थ की छाया में कल्पना भी कुछ काम दे सकती है। केन्द्र में यथार्थ होगा तो कल्पना भी उपयोगी बन सकती है। केन्द्र में कल्पना नहीं होनी चाहिए।

मनुष्य ने ज्ञ परिज्ञा और प्रत्याख्यान परिज्ञा, जानने वाली दृष्टि और त्यागने वाली दृष्टि का विकास किया। इसी के आधार पर समूचे दर्शन का विकास हुआ है। आज दर्शन का अर्थ भी बदल गया है। उसका अर्थ मात्र जानना रह गया है। पुस्तकीय ज्ञान को ही दर्शन मान लिया गया है। उसमें अनुभव को कोई महत्त्व नहीं मिला।

भारत में दर्शन की चेतना का विकास संयम, अहिंसा, अस्तित्वगत एकता या समानता के साथ हुआ था। यही दर्शन की महत्ता है। जहाँ अस्तित्वगत एकता या समानता की अनुभूति नहीं होती, वह दर्शन केवल बौद्धिक व्यायाम या तर्कशास्त्र की प्रणाली मात्र रह गया है। आज मैं दर्शन को तर्कशास्त्र से भिन्न नहीं देख रहा हूँ। दर्शन का अर्थ ही हो गया तर्कशास्त्र। आज के दर्शन का विद्यार्थी जानता है कि तर्क को छोड़ने के बाद दर्शन में शेष कुछ नहीं बचता। प्रारम्भ से अन्त तक तर्क ही तर्क। तर्क द्वारा समर्थन और विरोध, खण्डन और मण्डन।

आज की प्रमुख चर्चा होती है कि धर्म की कसौटी तर्क या बौद्धिकता होनी चाहिए। जो धर्म तर्क और बुद्धि की कसौटी पर खरा न उतरे, वह धर्म नहीं हो सकता। यह बात प्रारम्भ में ठीक लगती है। कोई भी आदमी किसी भी सचाई को स्वीकारता है तो उसकी कसौटी होती है तर्क और बुद्धि। तर्क और बुद्धि के आधार पर दर्शन की कुछ यात्रा की जा सकती है। वे सीढ़ियाँ बन सकती हैं। कुछ दूर आरोहण करने के लिए, पर वे शिखर तक नहीं पहुँचा पातीं। सीढ़ियों से दो-चार मंजिलों तक पहुँचा जा सकता है। परन्तु जहाँ सौ मंजिले मकान पर चढ़ने की बात आए, वहाँ सीढ़ियों से चढ़ पाना दुरूह हो जाता है। आदमी थक कर चूर हो जाता है। आज की स्थिति तो ऐसी बन गई है कि आदमी दुमंजिले या चार मंजिले मकान पर भी सिढ़ियों से चढ़ना नहीं चाहता। वह लिफ्ट का प्रयोग करके ही ऊपर जाता है। जब लिफ्ट खराब हो जाती है तब ऊपर चढ़ पाना मुश्किल हो जाता है।

सीढ़ियां आरोहण का माध्यम है। माध्यम अन्ततः माध्यम ही होता है। कोई भी एक माध्यम कभी सार्वभौम नहीं हो सकता। वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक भी नहीं हो सकता।

तर्क और बुद्धि आरोहण के माध्यम हैं। उनके सहारे हम आरोहण कर सकते हैं। हम चेतना की कई मंजिलों को, कई स्तरों को उनके माध्यम से पार कर सकते हैं। किन्तु उनके सहारे हम अन्तिम लक्ष्य तक नहीं पहुंच सकते। यह संभव नहीं हो सकता। जैसे-जैसे हम ऊपर चढ़ेंगे, तर्क और बुद्धि—दोनों कृतकार्य होकर नीचे ही रह जाएंगे। इसका स्पष्ट अनुमान हमें हो जाएगा। जो व्यक्ति अनुभव की चेतना को विस्मृत कर केवल तर्क और बुद्धि की चेतना के सहारे ऊपर जाता है, वह कुछ दूरी को पार अवश्य कर सकता है, पर मूल को स्पर्श नहीं कर पाता, ताला खोल नहीं पाता। चेतना का वह ताला अनुभव की चाबियों से खुलता है।

हमारे समक्ष दो स्थितियां हैं। एक है तर्क और बुद्धि के विकास की और दूसरी है अन्तरप्रज्ञा के विकास की। ध्यान के बिना अन्तरप्रज्ञा या अन्तर्वृत्ति का विकास नहीं हो सकता। अन्तर्वृत्ति के विकास के बिना सही अर्थ में दर्शन का विकास नहीं हो सकता। आज की शिक्षण-संस्थाओं के दर्शन विभाग केवल तर्क और बुद्धि को तीखा बनाने वाले विभाग हैं। बुद्धि का काम है—स्मृति और तर्क को तीक्ष्ण बना देना। शस्त्र को तीक्ष्ण बनाना एक बात है और तीखे शस्त्र का प्रयोग कब, कहां करना है, यह दूसरी बात है। शस्त्र की महत्ता उपयोग पर निर्भर होती है। तीखे शस्त्र से ऑपरेशन भी किया जा सकता है और दूसरे का प्राण-हरण भी किया जा सकता है। तीखे शस्त्र से उबारा जा सकता है और मारा भी जा सकता है। यहां आदमी के सामने दो स्थितियां आ जाती हैं। उसने शस्त्र की धार को तेज किया पर उपयोग की चेतना में परिवर्तन नहीं आया तो वह शस्त्र घातक बन जाता है, मारक बन जाता है। शस्त्र-निर्माण का समूचा इतिहास इस बात का साक्षी है कि मनुष्य का कोरा ज्ञान, कोरी शस्त्र की चेतना उसको विनाश के कगार पर ले जाकर खड़ा कर देती है। जब तक आदमी में प्रत्याख्यान परिज्ञा, छोड़ने की चेतना का जागरण नहीं होता, संयम की चेतना नहीं जागती तब तक वह विनाश से बच नहीं सकता। इसलिए दर्शन के साथ दोनों बातें जुड़ी होंगी—तार्किक चेतना और अनुभव की चेतना। वह दर्शन नहीं हो सकता जो केवल बौद्धिक और तार्किक चेतना का विकास करता है। वही दर्शन दर्शन हो सकता है जो बौद्धिक और तार्किक चेतना के विकास के साथ-साथ दोनों के द्वारा उत्पन्न परिणामों पर नियंत्रण रखने की क्षमता का विकास करता है। ऐसा होने पर ही हमारी चेतना के विकास की सार्थकता है।

ध्यान का प्रयोग चेतना के विकास का प्रयोग है, दर्शन का प्रयोग है। आज यह सद्यस्क अपेक्षा है कि आज के दार्शनिक दर्शन को नए परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न करें। केवल पुरानी बातों से काम नहीं चलेगा। प्राचीन समय की बातें दर्शन की परिधि में आती हैं, किन्तु मध्ययुगीन दर्शन यथार्थ दर्शन नहीं रहा। वह केवल बौद्धिक ही बना रहा। उसमें से अनुभव की चेतना लुप्त हो गई। उस दर्शन ने तर्क को बहुत आगे बढ़ा दिया। हमारे प्राचीन दार्शनिक बौद्धिक और तार्किक बल के धनी न भी थे, पर वे ऋषि थे, द्रष्टा थे। ऋषि ही वास्तव में दार्शनिक होता है। ऋषि की परिभाषा करते हुए कहा गया है—‘ऋषिदर्शनात्—ऋषि वह होता है, जिसमें दर्शन की क्षमता होती है, जो द्रष्टा होती है। जो द्रष्टा नहीं होता, जो देखने वाला नहीं होता वह ऋषि नहीं हो सकता। वह मुनि और तपस्वी नहीं हो सकता। उसमें दर्शन की—साक्षात्कार करने की क्षमता होनी चाहिए।

साक्षात्कार करने की प्रक्रिया भारतीय साधना-पद्धति की धुरी है। यहां के साधक परोक्ष में कम विश्वास करते थे, साक्षात्कार या प्रत्यक्ष में अधिक विश्वास करते थे। मध्ययुग में यह बात उलट गई। उस समय में दार्शनिक साक्षात्कार की प्रक्रिया को महत्त्व न देकर तर्क के आधार पर तथ्यों का मंडन करने लगे। दर्शन या साक्षात्कार पर भरोसा नहीं रहा, केवल तर्क और बुद्धि पर भरोसा बढ़ता गया। अनेक कारणों में यह भी एक कारण रहा है भारत के पिछड़ने का। आज जो विकसित राष्ट्र हैं, उनके विकास की भित्ति साक्षात्कार पर आधृत है। साक्षात्कार अतीन्द्रिय चेतना के द्वारा भी हो सकता है और सूक्ष्म उपकरणों के द्वारा भी हो सकता है। पश्चिम के लोगों ने साधना के द्वारा अतीन्द्रिय चेतना का विकास नहीं किया, किन्तु ऐसे सूक्ष्म यंत्रों का निर्माण किया कि उनके माध्यम से अतीन्द्रिय पदार्थों का, तत्त्वों का ज्ञान करने में वे सुफल हो गए। आज वे सूक्ष्म यंत्र अतीन्द्रियज्ञान के स्थानापन्न हैं। जब मुख्य चला जाता है तब स्थानापन्न व्यक्ति उस कार्य का संचालन कर लेता है। आज के सूक्ष्म वैज्ञानिक यंत्र अतीन्द्रिय ज्ञान के स्थान पर काम कर रहे हैं। उनके माध्यम से वैज्ञानिक अनेक तथ्यों का साक्षात्कार कर उन्हें जगत् के सम्मुख प्रस्तुत कर रहे हैं।

आज दार्शनिक जगत् वैज्ञानिक जगत् से पिछड़ गया है। आज दर्शन इसलिए निस्तेज हो गया कि उसने साक्षात्कार की प्रक्रिया को छोड़ दिया। विज्ञान इसलिए आकर्षण का केन्द्र बन गया कि उसने साक्षात्कार की प्रक्रिया को नहीं छोड़ा। जिनके साथ साक्षात्कार की प्रक्रिया नहीं होती, जो केवल अनुमान के आधार पर चलता है, वह बहुत आगे तक नहीं पहुंच पाता और अतिसूक्ष्म सत्यों को नहीं पकड़ पाता। सूक्ष्म सत्यों को साक्षात्कार की प्रक्रिया के द्वारा ही पकड़ा जा

सकता है, समझा जा सकता है। वे तर्क और बुद्धि के विषय नहीं बनते। यदि दर्शन के साथ फिर साक्षात्कार की बात जुड़ जाए तो यह स्पष्ट है कि दर्शन और विज्ञान की दूरी मिट सकती है।

दर्शन पिता माना जाता है और विज्ञान पुत्र। किन्तु आज पुत्र विज्ञान इतना तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी बन गया है कि लोग पिता दर्शन को भूल ही गए। पिता कहीं कोने में बैठा रो रहा है और पुत्र सारे संसार पर एकछत्र नियन्त्रण कर रहा है।

ध्यान का प्रयोग दर्शन को पुनः अपने मूल स्थान पर प्रतिष्ठित करने का प्रयोग है। वह पुनः अपने सिंहासन पर आरूढ़ हो सकता है, अपनी खोई हुई तेजस्विता को प्राप्त कर सकता है, यदि उसके साथ साक्षात्कार की प्रक्रिया जुड़ जाए। ध्यान साक्षात्कार का अचूक माध्यम है। ध्यान के अभ्यास के बिना साक्षात्कार की घटना घटित नहीं हो सकती।

ध्यान की प्रारंभिक अवस्था में साधक को कुछ अटपटा-सा लगता है। उसे वह भूलभुलैया प्रतीत होता है। ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है, बहुत स्वाभाविक है। क्योंकि जिस व्यक्ति ने चेतना की गहराई में जाना सीखा ही नहीं, उसे ध्यान की सारी प्रक्रिया अटपटी ही लगेगी। ऐसा लगना स्वाभाविक है, क्योंकि आज का आदमी चेतना के स्तर पर जी रहा है, उस स्तर में ये सारी बातें होती हैं। हम इस बात को कभी विस्मृत न करें कि उस चेतना के स्तर पर जीने वाला कोई भी व्यक्ति, फिर चाहे हजार वर्ष भी बीत जाएं, कभी विकास नहीं कर सकता। विकास का मूल मंत्र है—स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश करना, स्थूल जगत् से हटकर सूक्ष्म जगत् की यात्रा करना। जिन लोगों ने सूक्ष्म की यात्रा नहीं की, जिन लोगों ने सूक्ष्म सत्यों का अनुभव नहीं किया और सूक्ष्म में प्रवेश पाने का प्रशिक्षण नहीं लिया वे सदा काठ के घोड़े पर ही सवारी करने वाले रहेंगे, वो कहीं नहीं पहुंच पाता। वे कभी सूक्ष्म का स्पर्श नहीं कर सकेंगे।

आवश्यक यह है कि शिक्षक की निष्ठा केवल पुस्तकों पर या केवल स्थूल पर न रहे। पुस्तकों के अतिरिक्त भी ज्ञान का स्रोत है, स्थूल के अतिरिक्त भी सूक्ष्म का कोई स्रोत है—इस बात पर भी उसकी निष्ठा बने। यह उभयपक्षीय निष्ठा मनुष्य को आगे बढ़ाती है। एकपक्षीय निष्ठा विकास को रोकती है।

हम चेतना के आयाम और विकास की चर्चा कर रहे हैं तथा उसी के संदर्भ में दर्शन की मीमांसा कर रहे हैं। दर्शन का अर्थ होगा साक्षात्कार तथा बौद्धिक और तार्किक विकास की मिलीजुली प्रक्रिया। दोनों आवश्यक हैं। बौद्धिक और तार्किक विकास भी आवश्यक है और साक्षात्कार भी आवश्यक है। यह इसीलिए

आवश्यक है कि व्यक्ति व्यक्ति ही नहीं है, वह समाज भी है, वह समाज से जुड़ा हुआ है, समाज का घटक है। व्यक्ति अकेला नहीं है, वह दूसरा भी है। इस दृष्टि से स्वयं के लिए साक्षात्कार तथा दूसरे के लिए बुद्धि और तर्क। कल्पना करें कि किसी एक व्यक्ति में साक्षात्कार की क्षमता है, वह सचाई को साक्षात् जानता है, पर उसके पास यदि बुद्धिबल और तर्कबल नहीं है तो उसका ज्ञान स्व तक ही सीमित रहेगा। वह अपने सत्य को दूसरे तक नहीं पहुंचा पाएगा। वह अपने ज्ञान का संक्रमण नहीं कर सकता। उसको कम्प्यूनिकेट नहीं कर सकता। कम्प्यूनिकेशन के लिए बुद्धिबल और तर्कबल अत्यन्त अपेक्षित होता है। कोई व्यक्ति केवल बौद्धिक या तार्किक है तो वह सचाई तक नहीं पहुंच पाता। सचाई को हस्तगत करने के लिए साक्षात्कार की बहुत आवश्यकता है। यदि कोरी बौद्धिकता और तार्किकता हो, सचाई न हो तो न अपना भला होता है और न दूसरे का भला होता है। आज दार्शनिक और धार्मिक जगत् में बौद्धिकता और तार्किकता का साम्राज्य है। उसमें साक्षात्कार का बल हो तो इतने मतभेद नहीं हो सकते, इतने विवाद और संघर्ष नहीं हो सकते।

सचाई को पाने के लिए साक्षात्कार जरूरी है और अपने अनुभव को दूसरों तक पहुंचाने के लिए बुद्धि और तर्क जरूरी है।

एक तथ्य का प्रतिपादन कर देना या उसे कह देना अलग बात है और उसे दूसरे के गले उतार देना, हृदयंगम करा देना दूसरी बात है। जहां हृदयंगम कराने का प्रश्न आता है वहां बौद्धिक और तार्किक विकास बहुत जरूरी होता है। केवल कही हुई बात समझ में नहीं आती, परन्तु जब उसे तर्क से समझाया जाता है तब वह सीधी गले उतर जाती है, आदमी समाहित हो जाता है।

शिष्य ने गुरु से पूछा—गुरुदेव! इतने लोग धार्मिक उपासना करते हैं, धर्म चर्चा करते हैं, प्रवचन सुनते हैं, पर उनके जीवन-व्यवहार में कोई परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता। यह क्यों?

बहुत गहरा प्रश्न था। तो आज भी यह प्रश्न खड़ा है। लगता है यह सार्वकालिक प्रश्न है। आज के धार्मिक जगत् की भी यही स्थिति है। लोग धर्म करते जा रहे हैं, पर उनके जीवन में कोई रूपान्तरण घटित नहीं होता।

गुरु अनुभवी थे। उन्होंने प्रश्न की गहराई तक प्रवेश किया और शिष्य से बोले—अच्छा प्रश्न है। एक काम करो। शराब से भरा एक घड़ा ले लाओ। शिष्य किंकरत्नविविभूत होकर गुरु के चेहरे को देखता रहा। समझ नहीं पाया कि प्रश्न का और शराब के घड़े का क्या संबंध हो सकता है? उसने आदेश का पालन किया। शराब का एक घड़ा ले आया। गुरु ने कहा—सभी शिष्यों को यहां बुलाओ। सभी शिष्य वहां एकत्रित हो गए। गुरु ने आदेश की भाषा में कहा—‘प्रत्येक शिष्य इस

शराब के घड़े से एक-एक चुल्लू शराब मुंह में ले और उसे तत्काल थूक दे।' सभी शिष्यों ने वैसा ही किया। घड़ा खाली हो गया। गुरु ने फिर एक-एक शिष्य से पूछा—किसी को नशा आया? सभी शिष्य बोले—गुरुदेव ! नशा कैसे आता? नशा तब आता जब शराब गले के नीचे उतरती। हमने तो उसे मुंह में लेकर ही थूक दिया था। उसे गले के नीचे उतारा ही नहीं फिर नशा कैसे आता?

गुरु बोले—प्रश्न का उत्तर आ गया?

शिष्य बोले—समझ में नहीं आया।

गुरु बोले—आज घड़े भर-भर कर धर्म किया जा रहा है और कुल्ले के रूप में थूका जा रहा है। वह गले के नीचे उतरता ही नहीं, वह हृदय का स्पर्श करता ही नहीं। तब उसके परिणाम कैसे आ सकते हैं? जीवन में रूपान्तरण कैसे घटित हो सकता है? धर्म का भी अपना नशा होता है। वह कैसे आए? जब तक धर्म का कथन गले के नीचे नहीं उतरता तब तक उसका असर नहीं हो सकता। धर्म को गले उतारने के लिए बुद्धिबल और तर्कबल अपेक्षित होता है। दोनों का समन्वय होना जरूरी है। मैं उसी को दर्शन मानता हूँ और उसी को दार्शनिक मानता हूँ, जिसमें साक्षात्कार तथा बौद्धिक और तार्किक बल दोनों का समन्वय होता है।

इस प्रकार मनुष्य की चेतना का विकास अनेक दिशाओं में हुआ है, अतः उसके लिए जीवन और विज्ञान—दोनों पक्ष आवश्यक है। मनुष्य केवल प्राणी ही नहीं है। उसमें केवल प्राणवत्ता ही नहीं है, कोरा जीवन ही नहीं है। जीवन के साथ-साथ उसमें विज्ञान की क्षमता, अनुभव और विवेक की क्षमता और प्रत्याख्यान की क्षमता भी है। मनुष्य के लिए जीवन-विज्ञान का चुनाव किया जा सकता है। पशु-पक्षी के लिए इस विषय का चुनाव नहीं किया जा सकता।

आज यह बहुत आवश्यक प्रतीत होता है कि शिक्षक-वर्ग में ध्यान और ध्यान के साथ जीवन विज्ञान का समन्वय हो। इसी आधार पर वे नया चिन्तन देने में सक्षम हो सकते हैं। अभी-अभी राजस्थान के एजुकेशन कमीशनर ए० के० भटनागर बैंकाक जाकर आए हैं। बता रहे थे कि वहां की सरकार अपने कर्मचारियों के लिए ध्यान की व्यापक व्यवस्था पर चिंतन कर रही है। सभी देशों में यह चिन्ता व्याप्त है कि आदमी के व्यवहार को, आचरण को कैसे बदला जाए। आज शिक्षकों को ध्यान शिविर में भाग लेते देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और माना कि यह सद्यस्क अपेक्षा है। आज व्यक्ति, समाज, देश और राष्ट्र में जो विभिन्न प्रकार की चिन्ताएं व्याप्त हैं उससे मुक्त होने के लिए नए चिन्तन की जरूरत है, नए दर्शन की जरूरत है। वह नया चिन्तन और नया दर्शन ध्यान और कर्म—दोनों का समन्वय ही हो सकता है। वह जीवन-विज्ञान और पुस्तकीय ज्ञान—दोनों का

समन्वय हो सकता है।

मैं इसे बहुत कल्याणकारी उपक्रम मानता हूँ कि राजस्थान शिक्षाविभाग ने इस दिशा में कदम उठाया है। इसके बहुत अच्छे परिणाम संभव हो सकते हैं।

मैं कुछ होना चाहता हूँ

‘मैं मनुष्य हूँ’—इस विषय पर संक्षिप्त मीमांसा हमने की। मैं कुछ होना चाहता हूँ—यह हमारे सामने प्रश्न है। मनुष्य हूँ तो फिर पशु होना तो नहीं चाहता। मनुष्य हूँ तो वनस्पति जगत् में जाना तो नहीं चाहता। उत्क्रमण के बाद अपक्रमण में जाना कोई पसन्द नहीं करता। जब उत्क्रान्ति हो जाती है तो अपक्रान्ति किसे पसन्द होगी? किसी को भी पसंद नहीं होगी। हर व्यक्ति उत्तरोत्तर विकास चाहता है। मनुष्य देवता बनना चाहता है या मुक्त होना चाहता है। पर देवता होना कोई बड़ी बात नहीं है। देवता स्वयं चाहते हैं कि मनुष्य बनें। हमारी भारतीय साहित्य की धारा में अनेक बार यह गाया गया कि देवता स्वयं इच्छा करते हैं कि वे मनुष्य बनें और मनुष्य जन्म में कुछ विशिष्ट उपलब्धियां करें, जो केवल मनुष्य जन्म में ही की जा सकती हैं, दूसरे जन्म में नहीं की जा सकती। आध्यात्मिक चेतना का आरोहण विकास केवल मनुष्य जीवन में ही संभव है, दूसरे जीवन में संभव नहीं है। समृद्धि, वैभव अधिक हो सकता है, भोग-विलास अधिक हो सकता है, कुछ चामत्कारिक शक्तियां अधिक हो सकती हैं, पर निरन्तर चेतना को गतिशीलता, अहिंसा का विकास, अस्तित्व की अनुभूति और प्रत्येक अस्तित्व के प्रति सहानुभूति—ये केवल मनुष्य जन्म में ही सम्भव है, अन्यत्र संभव नहीं है। इसीलिए प्रार्थना के स्वर में कहा जाता है कि मनुष्य बनें और आत्मिक उत्कर्ष को उपलब्ध हों।

‘तुम क्या होना चाहते हो?’ ‘मनुष्य हूँ और सही अर्थ में मनुष्य बनना चाहता हूँ।’ मनुष्य होना और सही अर्थ में मनुष्य होना बिलकुल दो बातें हैं। आकार-प्रकार जाति से मनुष्य हूँ। किन्तु मनुष्यता का विकास नहीं होता तब तक मनुष्य होने की बात सदा सामने रहती है।

हमारी लाक्षणिकता है कि लक्ष्य के साथ जब तक पूरा लक्षण घटित नहीं होता तब तक संज्ञा का व्यपदेश नहीं होता, नामकरण नहीं होता। गोत्र के द्वारा ‘गोत्र’ होती है। मनुष्यत्व के द्वारा मनुष्य हो सकता है। मनुष्यत्व के अभाव में, केवल आकार-प्रकार से मनुष्य नहीं हो सकता।

दो प्रकार के धर्म हैं—विशेष धर्म और सामान्य धर्म। सामान्य धर्म लक्षण नहीं बनता। विशेषधर्म ही लक्षण बनता है। मनुष्य में विशेष धर्म मनुष्यत्व है, इसलिए वह मनुष्य है। यदि मनुष्यत्व नहीं है तो फिर मनुष्य होना भी संदिग्ध बन जाएगा। मनुष्य सही अर्थ में मनुष्य होना चाहता है। वह व्यवहार में परिष्कार चाहता है, आचार में परिष्कार चाहता है, संस्कार में परिष्कार चाहता है, स्वभाव

में परिष्कार चाहता है।

हम सामाजिक प्राणी हैं इसलिए आचार से पहले व्यवहार की बात हमारे सामने आती है। दूसरे के प्रति जो हमारा व्यवहार है वह एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न है। उसमें परिष्कार चाहते हैं। आचार अपना भी हो सकता है, दूसरे के प्रति भी हो सकता है। उसमें परिष्कार चाहते हैं। स्वभाव व्यक्तिगत होता है, मनुष्य उसमें परिष्कार चाहता है।

मनुष्य में तीन दुर्बलताएं होती हैं—क्रूरता, विषमता और स्वयं को हानि पहुंचाने वाली प्रवृत्ति। ये तीन बड़ी दुर्बलताएं हैं। पहली बात है क्रूरता। मैं व्यवहार में परिष्कार चाहता हूँ—इसका अर्थ है कि व्यवहार में क्रूरता है वहां कोमलता, मृदुता चाहता हूँ। करुणा चाहता हूँ। मेरा व्यवहार दूसरों के प्रति करुणा से भरा हुआ हो। क्रूरता का अंश धुल जाए, धुलता चला जाए। क्रूरता समाप्त हो जाए। पूरी क्रूरता समाप्त हो जाए। आज की सारी विसंगतियां, आज के सारे विरोधाभास, आज की सारी समस्याएं—चाहे आर्थिक क्षेत्र में हैं, चाहे राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्र में हैं उनका मूल उत्स है—मनुष्य की क्रूरता। क्रूरता के कारण ही आर्थिक कठिनाइयां पैदा हो रही हैं। आज जो आर्थिक समस्याएं हैं उनके मूल में सबसे बड़ा कारण है—मनुष्य की क्रूरता। क्या क्रूरता के बिना कोई आदमी किसी को धोखा दे सकता है? किसी को लूट सकता है? मिलावट कर सकता है? रिश्वत ले सकता है? ये सारी बातें नहीं हो सकतीं। एक क्रूरता ऐसी प्रभावी हो गयी कि सब कुछ खाओ तो भी हजम हो जाता है। सब बुराइयां हजम हो रही हैं। कभी सोचने का अवसर ही नहीं मिलता कि ऐसा नहीं होना चाहिए। एक बीमार पड़ा है मृत्यु-शय्या पर। पर जब तक अधिकारियों की पेट-पूजा नहीं हो जाती तब तक हॉस्पिटल में भर्ती होना भी कठिन हो जाता है। एक आदमी को आवश्यक कार्य से कहीं यात्रा करनी है, पर जब तक पूरी भेंट-पूजा नहीं दे देता तब तक टिकिट ही नहीं मिलती। एक व्यवसायी गायों को, बैसों को बिना मौत मार सकता है। चारे में ऐसी मिलावट करता है कि चारा खाते ही पशु मरने लग जाते हैं। क्या क्रूरता के बिना ऐसा संभव है? क्या आटे में मिलावट, मसालों में मिलावट, दाल में मिलावट क्रूरता के बिना संभव है? कभी संभव नहीं है। यह सारी आर्थिक भ्रष्टाचार की कहानी, क्रूरता की कहानी है।

हमारा व्यवहार शुद्ध हो। अणुव्रत आन्दोलन आचार-शुद्धि और व्यवहार शुद्धि का आन्दोलन है। दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार क्रूरता से मुक्त हो और यदि क्रूरता से मुक्त होता है तो अनेक समस्याएं अपने आप सामाहित हो जाती हैं, फिर उनके समाधान खोजने की आवश्यकता नहीं होती।

दूसरी बात है—आचार में विषमता न हो। विषमता हमारी दूसरी समस्या

है। आज विषमता से समूचा समाज पीड़ित है। बड़ी विषमता है। एक व्यक्ति के सामने इतनी समृद्धि है कि जिसका अंत नहीं। और दूसरे के पास अभाव की इतनी स्थिति कि उसका भी अन्त नहीं। हम जानते हैं कि जो भी प्राणी बना है, वह भोजन के बिना अपने जीवन की यात्रा को नहीं चला सकता। मनुष्य कैसे चलाएगा? किन्तु मनुष्य के सामने विषमता के कारण ऐसी कठिनाइयाँ हैं कि जीवन-यात्रा को चलाने में ही सारी प्राण-ऊर्जा समाप्त हो जाती है। शक्ति खर्च हो जाती है। कुछ काम करने के लिए बच ही नहीं पाती। नया काम कैसे करे? शक्ति रहती ही नहीं। सुबह से जगता है और सोता है तब तक सारी शक्ति उसी चिंता में खप जाती है।

पशु चरने को जाते हैं, सुबह जाते हैं, शाम ३-४ बजे तक बेचारे घास लेते जाते हैं और अपना पेट भरते हैं। फिर तो निश्चिन्त हो जाते हैं, किन्तु आदमी को खाने की, चरने की चिन्ता सोते हुए भी सताती है, नींद में भी सताती है। उठते भी सताती है, सोते हुए भी सताती है। चिन्ता निरन्तर बनी रहती है कि आज कैसे काम चलेगा? इस विषमतापूर्ण आचरण ने एक समस्या उत्पन्न की है। आचार का परिष्कार चाहता हूँ। इसका अर्थ है—समतापूर्ण आचार चाहता हूँ।

आचार्य सोमदेव ने लिखा है—'समता परमं आचरणम्।' आचार का सबसे बड़ा सूत्र है—समता, साम्यभाव, समानता। यह केवल समाजवाद या साम्यवाद का ही सूत्र नहीं है। यह हर चिंतन की अच्छाई का सूत्र है कि जहाँ समतापूर्ण मनःस्थिति होती है वहाँ समाज का विकास होता है और जहाँ समाज की आचारधारा में विषमता होती है वहाँ समाज का पतन होता है। आचार के परिष्कार का अर्थ है—समता का विकास।

तीसरी बात है कि स्वभाव का परिवर्तन चाहता हूँ, संस्कार का परिवर्तन चाहता हूँ। वह स्वभाव जो शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक हानि पहुंचाता है, शरीर को भी नुकसान देता है, कष्ट देता है, मन को भी संताप देता है, मन झुलस जाता है और आंतरिक वृत्तियों को भी कष्ट देता है, उस स्वभाव से मुक्ति चाहता हूँ। स्वभाव की जटिलता के कारण मनुष्य संघर्ष में से गुजरता है और उसकी एक भट्टी जलती रहती है, जिसकी आंच सदा प्रताड़ित करती रहती है। चूल्हे के सामने बैठने वाला व्यक्ति, रसोई बनाने वाला व्यक्ति गर्मी का अनुभव करता है। पर तभी जबकि वह चूल्हे के सामने बैठता है। किन्तु हमारे भीतर तो कई चूल्हे जल रहे हैं। कभी क्रोध का, कभी अहंकार का, कभी वासना का तो कभी भय का। न जाने कितने चूल्हे जल रहे हैं! कितनी आंच पक रही है। उस आंच के कारण स्वभाव बिगड़ता जाता है और उसका परिणाम शरीर पर होता है तो शरीर रुग्ण हो जाता

है। मन पर होता है तो मन रुग्ण हो जाता है और भावना पर होता है तो भावनाएं रुग्ण हो जाती हैं। आन्तरिक वृत्तियां रुग्ण होती हैं। मैं उनका परिष्कार चाहता हूँ। भाव का परिष्कार चाहता हूँ। इसका अर्थ होगा कि अपने आवेशों पर नियमन चाहता हूँ, आवेशों पर नियमन चाहता हूँ, अपने कषायों पर नियमन चाहता हूँ क्योंकि इसी से एक सुखद स्थिति का निर्माण होगा।

एक डॉक्टर ने बीमार से कहा कि तुम तम्बाकू पीना छोड़ दो। पास में खड़े व्यक्ति ने पूछा—डॉक्टर साहब! तम्बाकू नहीं पीएगा तो क्या इससे यह ठीक हो जाएगा? डॉक्टर ने कहा—और ठीक होगा या नहीं मुझे नहीं पता, किन्तु मेरा बिल चुकाने की स्थिति में जरूर आ जाएगा। इतना तो होगा। इतना धूम्रपान करता है तो अर्थ-शक्ति तो सारी धूम्रपान में ही चुक जाती है, फिर बिल चुकाने की स्थिति में ही नहीं रहते।

ये तीन परिष्कार हैं। प्रेक्षा-ध्यान का पूरा प्रयोग इन तीन परिष्कारों के लिए है कि व्यक्ति का व्यवहार बदले, आचार बदले और स्वभाव बदले। इसका दूसरा अर्थ होगा कि क्रूरता समाप्त हो और करुणा जागे। विषमता समाप्त हो और समता की चेतना जागे। आवेश समाप्त हो और सहिष्णुता तथा मानसिक शांति की चेतना जागे। इस अर्थ में यह घोष हमारे सामने है कि 'मैं कुछ होना चाहता हूँ।' ऐसा मनुष्य होना चाहता हूँ कि जिसमें ये तथ्य प्रवाहित हो रहे हों। मृदुता की धारा, समता की धारा और शांति की धारा—यह त्रिवेणी जिसमें प्रवाहित हो रही है, ऐसा चेतना-सम्पन्न मनुष्य होना चाहता हूँ। यह हमारा नया प्रस्थान है। एक प्रायोगिक प्रस्थान। हम सिद्धांत की बात बहुत करते हैं, बहुत रस लेते हैं क्योंकि दिमागी व्यायाम में जितना आनन्द मिलता है उतना प्रयोग में नहीं मिलता। दिमागी कसरत करने में बड़ी अच्छी बात होती है। सीधा काम है। उसमें कोई कष्ट नहीं होता। दो आदमी बैठे हैं—बातचीत शुरू की, उठे और बात समाप्त हो गई। कोई भी कष्ट नहीं होता। कुछ भी करना नहीं पड़ता। बस, केवल इतना करना पड़ता है—एक जीभ इधर चलती है, दूसरी जीभ सामने चलती है। तो केवल जीभ को ही चलाना पड़ता है, जीभ को ही व्यायाम देना पड़ता है। स्वर-यंत्र को, कंठनली को ही व्यायाम देना पड़ता है, स्वर-स्थानों को व्यायाम देना पड़ता है और कुछ भी नहीं करना होता। प्रयोग में तो बहुत खपना पड़ता है। प्रयोग की बात कठिन होती है। बातचीत और वाचिक विनिमय की बात सरल होती है। यह प्रायोगिक बात है, परिवर्तन की बात है। पूर्णता की दिशा में प्रस्थान करने की बात ही प्रायोगिक बात है, इसके बिना। प्रयोग के बिना हमारा प्रस्थान नहीं हो सकता। हमारी चेतना तीन कोणों में बराबर काम कर रही है। एक चेतना का वह कोण है जहां आदमी रोता है, विलाप करता है, दुःख का अनुभव करता है। दूसरा कोण है—जहां आदमी प्रसन्न

होता है, हर समस्या में से समाधान निकाल लेता है और प्रसन्नता का अनुभव करता है। तीसरा कोण है—जो पूर्णता की दिशा में प्रस्थान करता है, जहां परम पुरुषार्थ जाग जाता है, परम प्रज्वलन और परमज्योति प्रस्फुटित हो जाती है। यह हमारा तीसरा कोण है। एक कहानी के द्वारा इस बात को स्पष्ट करना चाहता हूँ—

तीन भाई थे। मां ने एक बेटे से कहा—जाओ, बाजार से तेल ले आओ। शीशी लेकर गया, तेल भरा, घर की ओर रवाना हुआ। अकस्मात् ऐसा हुआ कि शीशी हाथ से गिरी, कांच की थी, फूट गई। सारा तेल बिखर गया। अब क्या होगा? मां उलाहना देगी। रोता हुआ घर पहुंचा और रूंआसे स्वर में मां से बोला—‘शीशी गिर गई, तेल भी गया और पैसे भी गए।’ वह रोने लग गया। मां ने दूसरे लड़के से कहा—तुम जाओ। तेल जरूरी है तेल ले आओ। वह गया, तेल भरा। आने लगा। कोई आकस्मिक घटनाएं ऐसी होती हैं कि जिनकी व्याख्या करना कठिन होता है। ऐसी ही कोई आकस्मिक घटना घटी कि उसके हाथ से शीशी गिर गई। पर इतना हुआ कि शीशी फूटी नहीं, तेल बिखर गया। पूरा नहीं बिखरा, कुछ बिखरा। शीशी उठाई। उसने बड़ी संतोष की सांस ली। दौड़ा-दौड़ा आया और मां से बोला—देखो मां! कैसी घटना घटी? कितनी खुशी की बात है कि शीशी गिरी किन्तु फूटी नहीं। तेल बिखरा पर पूरा नहीं बिखरा। आधा बच गया। वह प्रसन्नता से उछलने लगा। बड़ी प्रसन्नता का अनुभव किया। मां ने कहा—काम पूरा नहीं हुआ। तेल और चाहिए। इतने से काम नहीं होगा। अब मां ने तीसरे लड़के से कहा—अब तुम जाओ। ऐसा मत करना जैसा इन्होंने किया है। तेल लाना है। उसने भी तेल भरा, आने लगा और उसके साथ भी वही बीता। शीशी गिर गई फूटी नहीं, पूरा का पूरा तेल खाली हो गया। ऐसी औंधी पड़ी कि तेल गिर गया। उसने सोचा बड़ी विचित्र बात है। मां ने तेल लाने के लिए कहा था, पर यह तो बिखर गया। उसने संकल्प किया—जब तक शीशी पूरी नहीं भर लूंगा तब तक घर नहीं जाऊंगा। वहीं से गया बाजार। श्रम का काम खोजा। श्रम किया। सांझ होते-होते पैसे कमा लिये। बाजार गया। तेल खरीदा। पूरी शीशी भरी और मां के पास पहुंचा। बोला—यह लो तेल। इतना समय? बोला—इतना समय ज्योति को प्रज्वलित करने में लगा। मैंने ज्योति जलाई है, उसमें इतना समय लगा है।

हमारी चेतना के भी तीन कोण होते हैं। एक रोने वाली चेतना, एक हंसने वाली चेतना, प्रसन्नता का अनुभव करने वाली चेतना और एक पूर्णता की दिशा में प्रस्थान करने वाली चेतना। जो व्यक्ति चेतना की गहराई में नहीं जाता, ध्यान का अनुभव नहीं करता वह व्यक्ति रोने की स्थिति में रहता है। थोड़ी-सी समस्या पैदा होती है—अब क्या होगा? बात तो छोटी-सी होती है। राई जितनी

समस्या होती है और उसे पहाड़ बनाकर सारे दिन और रात दुःख भोगने लग जाता है। नींद हराम, भूख हराम। ऐसा लगता है, मानो सब कुछ खो गया है। छोटी बात को बड़ी बना लेता है। दुनिया में बहुत सारी घटनाएं बड़ी नहीं होतीं। हम अपनी चेतना की दुर्बलता के द्वारा छोटी बात को बहुत बड़ी बना लेते हैं और बहुत तूल दे देते हैं। तूल ही दुनिया में ज्यादा चलता है। वास्तव में देखा जाए तो घटना बड़ी होती ही नहीं है। इन छोटी-छोटी बातों को लेकर परस्पर लड़ाइयां, झगड़े, कलह, संघर्ष की ज्वालाएं, चिनगारियां और चारों तरफ स्फुलिंग उछलते हैं। कोई बड़ी बात नहीं होती, किन्तु ये सब चेतना की दुर्बलता के कारण होते हैं और ध्यान की अवस्था में गए बिना, कषायों और आवेगों को शान्त किए बिना दुर्बलता कभी समाप्त नहीं होती। यह वह चेतना है जो हर समस्या को पहाड़ बना देती है और रोने की स्थिति पैदा कर देती है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आदमी दुःख में से सुख निकाल देता है और सुख की स्थिति से भी दुःख निकाल देता है। आदमी सुख में दुःख खोज लेता है। आशा में निराशा खोज लेता है और उत्साह में से अनुत्साह खोज लेता है। यदि हम ध्यान से सर्वेक्षण करें तो हमें पता चलेगा कि दुःख में से सुख खोजने वाले लोग बिरले हैं और सुख में से दुःख खोजने वाले लोग असीम हैं, असंख्य हैं। हर घटना में से दुःख खोज लेते हैं। जैसे मक्खी अच्छी-अच्छी चीज को छोड़कर मल को खोज लेती है, वैसे ही लोग ऐसी कमजोरी को पकड़ लेते हैं। अंगुली सीधी कमजोरी पर जाती है, दोष पर जाती है और सारा ध्यान उसी में लग जाता है। हर जगह कृष्ण पक्ष को खोजने में लग जाते हैं। शुक्ल पक्ष कभी सामने नहीं आता, अच्छाई की ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान सीधा बुराई की ओर जाता है। एक प्रकार की चेतना है, रोने वाली चेतना है।

दूसरी चेतना प्रमोद की भावना वाली है, जिसमें प्रमोद है, हर्ष है। दूसरे की विशेषता देखी तो प्रमोद की भावना जागी, हर्ष की भावना जागी। कभी कोई हीनता का अनुभव नहीं हुआ और अपने पुरुषार्थ की ओर ही ध्यान गया। यह हंसने वाली चेतना है। समस्या में से समाधान खोजने वाली चेतना या दुःख में से सुख खोजने वाली चेतना—यह चेतना का दूसरा कोण है। ऐसे लोग भी बहुत मिलते हैं जो इस चेतना का विकास कर लेते हैं और निरन्तर सुख में रहते हैं, दुःख का अनुभव नहीं करते। अज्ञानी मनुष्य के लिए, पहली प्रकार की चेतना वाले आदमी के लिए यह संसार-समुद्र जहर से भरा हुआ है और दूसरी प्रकार की चेतना वाले मनुष्य के लिए यह संसार-समुद्र अमृत से भरा हुआ है। अमृत ही अमृत है उसके लिए।

तीसरे प्रकार की चेतना पूर्णता की दिशा में प्रस्थान करने वाली चेतना है। वह अपूर्ण से पूर्ण की दिशा में प्रस्थान करती है। कहीं भी अपूर्णता है—परिश्रम

करूंगा, पुरुषार्थ करूंगा, उसे भरूंगा। खड्डे भी भरूंगा, खाली को भरूंगा और पूरा करूंगा। इस दिशा में प्रयास चलता है। यह हमारी सृजनात्मक चेतना होती है। यह हमारी रचनात्मक दृष्टिकोण होता है। इस सृजनात्मक चेतना के द्वारा ही मनुष्य-जाति का विकास हुआ है, समाज का रथ आगे बढ़ा है। चाहे साहित्यिक क्षेत्र में, साधना या संस्कृति के क्षेत्र में और चाहे किसी भी क्षेत्र में—जो-जो सृजनात्मक चेतना प्रस्फुटित हुई है वह इसी तीसरी चेतना के माध्यम से हुई है।

ध्यान का अभ्यास इस चेतना के जागरण का अभ्यास है। चेतना को चेतना के द्वारा जगाया जा सकता है। चेतना के अनुभव द्वारा चेतना के जागरण की यही प्रक्रिया रही है। धातुवाद की एक पूरी प्रक्रिया है। प्राचीन भारत में भी आजकल जो विशेष अन्तरिक्षयान बनाए जाते हैं उनमें धातु-शोधन की बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती है। धातु का शोधन शुद्ध धातु के द्वारा ही किया जा सकता है और कोई उपाय नहीं। एक शुद्ध धातु का डंडा बना दिया, उसमें से सारे विजातीय कण निकाल दिए। उस डंडे को घुमाते चलो और जो अशुद्ध धातु है वह अपने आप शुद्ध होती जाएगी, उसके विजातीय कण निकलते चले जाएंगे। जब तक विजातीय तत्त्व हैं, धातु शुद्ध नहीं होती। शुद्ध धातु के द्वारा धातु के शोधन की प्रक्रिया की जाए। हमारी चेतना की भी यही प्रक्रिया है। अशुद्ध चेतना के अनुभव के द्वारा कभी भी चेतना का शोधन नहीं हो सकता। जब तक चेतना में राग-द्वेष की तरंगें भरी पड़ी हैं, जब तक राग-द्वेष की ऊर्मियां जाग रही हैं तब तक चेतना का जागरण नहीं हो सकता और चेतना शुद्ध नहीं बन सकती। ध्यान एक वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा विजातीय तत्त्वों का शोधन होता है। राग-द्वेष, कषाय, वासना—ये सारे विजातीय कण चेतना में मिले हुए हैं। जैसे ही ध्यान का, राग-द्वेष-मुक्त प्रेक्षा का प्रयोग होता है, चेतना से विजातीय तत्त्व निकलने लग जाते हैं। प्रेक्षा का मतलब है—देखें, अनुभव करें। न राग, न द्वेष, न प्रियता का संवेदन, न अप्रियता का संवेदन। राग-द्वेष-मुक्त चेतना के द्वारा अपनी चेतना का अनुभव करें, जिससे चेतना का शोधन होगा और ठीक यह धातुवाद की प्रक्रिया होगी। यह जीवन की प्रगति का, जीवन के विज्ञान का एक महान् अनुष्ठान है। यह वह अनुष्ठान है जिसके द्वारा व्यवहार का परिष्कार होता है, आचार का परिष्कार होता है और स्वभाव का परिष्कार होता है। इन तीनों का परिष्कार होने का अर्थ है—व्यक्ति का परिष्कार, समाज का परिष्कार। यह एक स्वप्न है और इतना मीठा स्वप्न इतना सुनहला स्वप्न कि इस स्वप्न को साकार किया जा सकता है। दुनिया में कोई सपना अधूरा नहीं होता यदि हमारा पुरुषार्थ बराबर चलता रहे। कोई भी कल्पना और सपना साकार हो सकता है, यदि पुरुषार्थ बराबर चलता रहे। अपेक्षा है सपना देखने की और अपेक्षा है समुचित पुरुषार्थ की।

मैं आत्मानुशासन चाहता हूँ

समाज में जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति किसी संयम, नियम, नियंत्रण या अनुशासन के साथ जीता है। स्वतंत्रता की बात बहुत अच्छी है किन्तु हमारी बहुत प्रभावी दुनिया में, नाना प्रकार के संक्रमणों और प्रभावों से गुजरने वाली दुनिया में स्वतंत्रता सापेक्ष ही हो सकती है। निरपेक्ष स्वतंत्रता की बात कभी हमें प्राप्त नहीं होती।

एक संस्कृत कवि ने लिखा है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।

पुत्रो रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ।।

स्त्री स्वतंत्र नहीं होती। कुमारी होती है तब पिता उसकी रक्षा करता है, युवति होती है तब पति रक्षा करता है और वृद्ध होती है तब पुत्र रक्षा करने लग जाता है।

स्त्री के विषय में कही गई बात सभी पर लागू होती है। केवल स्त्री ही नहीं, पुरुष भी स्वतंत्र नहीं होता। प्राणी जगत् का कोई भी प्राणी स्वतंत्र नहीं होता, इतने प्रभाव हैं हमारी दुनिया में। वातावरण का प्रभाव, परिस्थिति का प्रभाव, सौरमंडल का प्रभाव, दूसरे-दूसरे प्राणियों का प्रभाव, वाणी का प्रभाव। इतने प्रभावों की दुनिया में हम जीते हैं, वहां निरपेक्ष स्वतंत्रता की बात सोची ही नहीं जा सकती। अनुशासन और नियंत्रण बराबर चलते हैं। एक अन्तर होता है अनुशासन और नियंत्रण का। कोई नियंत्रण बाहरी प्रभाव से आता है और कोई नियंत्रण भीतरी प्रभाव से आता है। बाहर से आने वाले नियंत्रण नियंत्रण कहलाते हैं या परानुशासन कहलाते हैं, आरोपित अनुशासन कहलाते हैं। भीतर से फूटने वाला नियंत्रण आत्मानुशासन की प्रक्रिया है। यदि ध्यान के द्वारा, कायोत्सर्ग के द्वारा आत्मानुशासन का विकास न हो तो ध्यान और कायोत्सर्ग भी एक-नशे की गोली बन जाएगा। गोली ली, नशा आ गया। आराम का अनुभव हुआ। नशा उतरा फिर वैसा का वैसा। यह यदि मादकता की बात हो और एक सामायिक उपचार हो तो इसे बहुत मूल्य नहीं दिया जा सकता और न ही दिया जाना चाहिए।

मैं मानता हूँ कि ध्यान, कायोत्सर्ग—ये सामायिक उपचार नहीं हैं, दीर्घकालीन उपचार हैं। तीन काल हैं—अतीत, वर्तमान और भविष्य। अतीत का हमारे ऊपर बहुत प्रभाव होता है। हम कितनी ही स्वतंत्रता की बात करें और सोचें, पर अतीत

के प्रभाव से कौन मुक्त है? पुराने जमे हुए संस्कार, वृत्तियां, संज्ञाएं पग-पग पर आदमी को विवश करती हैं, बाध्य करती हैं। अतीत की सांकल से बंधा हुआ आदमी दौड़ रहा है। बड़ा आश्चर्य है कि सांकल से छूटा हुआ आदमी दौड़ सकता है, पर सांकल से बंधा हुआ आदमी दौड़े, यह बड़ी विचित्र बात लगती है। ठीक कहा है एक संस्कृत कवि ने—

आशा नाम मनुष्याणां, काचिदाश्चर्यश्रृंखला ।

यया बद्धाः प्रधावन्ति, मुक्ताः तिष्ठन्ति पंगुवत् ॥

आशा नाम की एक अजीब सांकल है। बड़ी विचित्र सांकल है कि उससे बंधे हुए आदमी तो दौड़ते हैं और उससे छुटे हुए आदमी पंगु की तरह बैठे रह जाते हैं।

अतीत से बंधा हुआ आदमी बहुत चक्कर लगाता है। अतीत का हमारे मन पर बहुत प्रभाव है। मनोविज्ञान ने मन को तीन भागों में बांट दिया—अवचेतन मन और चेतन मन। आदमी चेतन मन के सहारे जो कार्य करता है वे चेतन मन की अपनी घटनाएं नहीं होतीं, वे प्रभावी घटनाएं होती हैं। यह प्रभाव बाहर से भी आता है और भीतर से भी आता है। अवचेतन मन में जमे हुए संस्कार, अवचेतन मन में जमी हुई प्रतिक्रियाएं, अवचेतन मन में जमे हुए प्रतिशोध के भाव जब-जब उभरते हैं तब-तब चेतन-मन सक्रिय होता है, वैसा ही अभिनय करने लग जाता है। चेतन मन तो बेचारा अभिनय करने वाला है। यदि अभिनय का मूलस्रोत न बदले तो अभिनय करने वाले का क्या बदलेगा? आज किसी ने एक अभिनय किया, कल दूसरा अभिनय करने लग जाएगा, परसों तीसरा अभिनय करने लग जाएगा। आज क्रोध का अभिनय किया, कल अहंकार का अभिनय करने लग जाएगा, परसों लालच का अभिनय करने लग जाएगा, कभी माया का अभिनय करने लग जाएगा, कभी भय का, कभी वासना का। ये अभिनय इस रंगमंच पर निरन्तर चलते ही चलेंगे। कहां अन्त होगा इनका। जब तक अवचेतन मन में, हमारे अज्ञात और सूक्ष्म मन में भरी हुई प्रेरणाएं नहीं मिट जातीं, नहीं घुल जातीं, तब तक इस अभिनय का अन्त नहीं होगा। यह ध्यान का उपक्रम वर्तमान को मिटाने का उपक्रम नहीं है। यह अभिनय के मूलस्रोत को मिटाने का उपक्रम है। बगीचे में लिखा हुआ था बोर्ड पर, फूल तोड़ना मना है। एक लड़का गया और पौधा उखाड़ने लगा। माली ने कहा—क्या करते हो? पढ़ा नहीं तुमने, बोर्ड पर क्या लिखा है? उसने कहा—पढ़ लिया, तभी तो यह कर रहा हूँ, वहां लिखा है—फूल तोड़ना मना है। मैं फूल कैसे तोड़ सकता था? कहां लिखा है—पौधे तोड़ना मना है? मैं तो पौधे ही उखाड़ रहा हूँ, फूल कहां तोड़ रहा हूँ?

हम भी जब फूल तोड़ते जाएंगे, पत्तियां तोड़ते जाएंगे तो कभी भी अन्त नहीं होगा। फूल को सींचों, पत्तियों को सींचो काम नहीं बनेगा। फल तोड़ो, पत्तियां तोड़ो, कभी काम नहीं बनेगा। सींचना होगा तो जड़ को ही सींचना होगा। ये ऊपर के उपचार, ये तात्कालिक और सामयिक उपचार बहुत उपयोगी नहीं हो सकते। ध्यान का विकास इसलिए हुआ था कि आदमी सामयिक उपचार कब तक करेगा। आखिर कब अन्त होगा इस श्रृंखला का। कोई अन्त नहीं होगा। एक बात सुनी और अच्छी लगी। मन पर प्रभाव भी हुआ, पर कल वैसे के वैसे। कल की बात तो बहुत लम्बी बात हो जाती है। दो घंटा के बाद वैसे के वैसे, क्योंकि वह सामयिक उपचार था, एक शाब्दिक उपचार था। उसे नशे की गोली भी कहा जा सकता है। किन्तु ध्यान भीतर तक पहुंचाने वाली प्रक्रिया है। वह अवचेतन मन को अंकृत करने वाली और उसका शोधन करने वाली प्रक्रिया है। उस पर जो मैल जमा हुआ है, उस पर जो दोष जमे हुए हैं, वहां संस्कार की परतें गहरी जमी हुई हैं, उनको, उखाड़ना और इतना उखाड़ देना कि पूरी धुलाई कर देना। यह ब्रेनवाशिंग की प्रक्रिया भी नहीं है। वह भी ऊपर की प्रक्रिया है। मस्तिष्क की धुलाई भी ऊपर की बात है। हम तो पूरे ग्रंथि-तंत्र की धुलाई की बात कर रहे हैं, जहां से सारे व्यवहार और आचार की प्रेरणाएं मनुष्य को उपलब्ध हो रही हैं। ध्यान को न ऊपर की घटना समझें, न बाहर को छूने वाला घटना समझें और न सतही उपक्रम समझें। यह बहुत गहरे को छूने वाला उपक्रम है और इसीलिए है कि ध्यान करने वाले व्यक्ति में कभी-कभी क्रोध भयंकर रूप से जाग जाता है, भयंकर वासना जाग जाती है, भयंकर विकार जाग जाते हैं। वह घबरा जाता है कि चला था ध्यान करने और लेने से देना पड़ा। आप मत घबराइये, इतने मात्र से नहीं जागेगी, थोड़े स्पर्श से नहीं जागेगी। यह उन लोगों में जागती है जो बहुत गहरे में चले जाते हैं। बहुत गहरे में ध्यान की अवस्था में उतरते हैं और जब भीतर की धुलाई शुरू होती है तो भला इतने दिन की जमी हुई वासनाएं भी सीधी हार कैसे मान लेंगी! वे भी तो अपना प्रतिरोध करेंगी, फुफकारेंगी और इतनी भयानक फुफकार करती हैं कि आदमी घबरा जाता है। उसी अवस्था में गुरु के मार्ग-दर्शन की जरूरत होती है कि यह घबराने की बात नहीं, यह शुभ लक्षण है, शुभ संकेत है इस बात का कि भीतर की पूरी सफाई हो रही है। इस सफाई को हम न भूलें कि एक कूड़े-करकट का ढेर है। सफाई करनी है तो जैसे-जैसे हम सफाई करेंगे नीचे से दुर्गन्ध ही आएगी। बदबू आएगी। यह कभी नहीं होता कि हम पूरी सफाई करें और बदबू न आए। जो जमा हुआ है वह तो निकलेगा ही। उसका शोधन नहीं हुआ तो विकार भीतर का भीतर रहकर अपनी प्रतिक्रिया करेगा और आदमी को सदा बीमार बनाए रखेगा।

स्वास्थ्य का लक्षण है—बीमारी की जड़ को उखाड़ देना। उखाड़ते समय बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यह ध्यान केवल बाहर से बदलने वाली बात नहीं है। यह अन्तःस्पर्श होता है। भीतर से बदलने की प्रक्रिया शुरू होती है। इसलिए इसे न तो मादक-वस्तु कहा जा सकता है, न सामयिक उपचार कहा जा सकता है। यह दीर्घकालिक और जड़ को छूने वाला उपचार है। जब संस्कार समाप्त होते हैं तो फिर हमारे अभिनय भी कम होने लग जाते हैं। अभिनय तो सारा संस्कार के आधार पर चलता है। जब मूल संस्कार ही नहीं है तो आदमी नाना प्रकार के अभिनय कैसे करेगा?

प्रश्न होता है—ध्यान करने वाले व्यक्ति के मन में एक सहज ही विकल्प उठता है कि हम ध्यान के अधिकारी कहां हैं? बर्तन तो गंदा है, अच्छा भोजन उसमें उपयोगी कैसे बनेगा? कुछ डाल दिया जाएगा तो वह भोजन भी गंदा हों जाएगा। कैसे हो? तर्क तो ठीक लगता है। बात ठीक लगती है कि गंदे बर्तन में डाला हुआ भोजन भी गंदा हो जाएगा। यदि इस गंदगी से इस तर्क के सहारे डरते रहें तो काम बनेगा ही नहीं।

ध्यान ही एक ऐसी शक्ति है जो गंदगी को अच्छाई में बदल सकती है। जिसमें यह शक्ति न हो कि वह गंदगी को अच्छाई में बदल सके, उसके लिये तो तर्क ठीक है। भोजन में यह ताकत नहीं है कि भीतर पड़ी हुई गंदगी को वह अच्छाई में बदल सके, स्वयं अच्छा रह सके किन्तु ध्यान में यह ताकत है कि स्वयं पवित्र है और आस-पास के वातावरण को भी पवित्रता में बदल देता है। गंदगी छूट जाती है। ध्यान कहीं भी जाये, गंदे से गंदे हाथ में भी जाये तो हाथ पवित्र बन जायेंगे, और पवित्र बनाने का साधन ही क्या है? पानी कभी नहीं सोचता कि मैं गंदे हाथ में क्यों जाऊँ? गंदे हाथ में जाऊंगा तो गंदा बन जाऊंगा। पानी यह बात सोचे तो गंदगी को मिटाने का उपाय ही समाप्त हो जायेगा। हमारे पास कोई उपाय नहीं है गंदगी मिटाने का। जहां गंदगी है, पानी जाता है और गंदगी को साफ कर देता है। उसके अतिरिक्त सफाई का हमारे पास साधन ही क्या है? पानी को यह भय नहीं होता कि मैं जाऊंगा और गंदगी साफ होगी या नहीं? ध्यान वह निर्मल जलधारा है जो जहां प्रवाहित होती है वहां सारी गंदगी समाप्त होती चली जाती है। निर्मलता आती है, चित्त निर्मल, शरीर निर्मल, वाणी निर्मल, श्वास निर्मल, सब कुछ निर्मल होते चले जाते हैं। हम इस बात से भयभीत न हों। ध्यान की भूमिका में कोई गंदा नहीं है। उसके लिए सब पवित्र होते हैं। हमारी एकनिष्ठा होनी चाहिए—गंदगी को मिटाने की क्षमता ध्यान में है। गंदगी को मिटाया जा सकता है और अभ्यास के द्वारा मिटाया जा सकता है। यह

त्रिआयामी और त्रिसूत्री हमारी आस्था होनी चाहिए:-

१. क्षमता

२. समाप्त किया जा सकता है या विकास किया जा सकता है।

३. समाप्ति और विकास अभ्यास के द्वारा किये जा सकते हैं।

ये तीन सूत्र हैं। इन पर आस्था जमे तो आत्मानुशासन भी दुर्लभ नहीं है। आत्मानुशासन तब प्रकट होगा जब भीतर में जमे हुए संस्कार उखड़ेंगे। उन संस्कारों को उखाड़ने की हमारी क्षमता है। आत्मानुशासन को विकसित करने की क्षमता हमारे भीतर विद्यमान है। वह किया जा सकता है। वह असंभव या अशक्य अनुष्ठान नहीं है और उसे अभ्यास के द्वारा किया जा सकता है। अभ्यास के लिए हमें मार्ग खोजना होगा। उसके सूत्र उपलब्ध करने होंगे। उसके सूत्र हैं—संयम और तपस्या। एक आरोपित नियन्त्रण होता है, जो बन्धन और वध के द्वारा किया जाता है। दण्ड का नियन्त्रण, दण्ड का अनुशासन। उसके भी दो सूत्र हैं—बन्धन और वध। या तो बांधा जाएगा, पीटा जाएगा या मारा जाएगा। इसके सिवास उसके पास कोई शक्ति नहीं है। दण्ड के पास दो शक्तियाँ हैं। किसी आदमी को बांध दो, पीटो, मार डालो। जब तक वह बन्धन और वध की बात रहती है तब तक आत्मानुशासन का विकास नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति में आत्मानुशासन का विकास हो जाता है वह बन्धन और वध—दोनों भयों से मुक्त होकर सर्वतो अभय हो जाता है।

सम्राट सिकन्दर ने एक दिगम्बर मुनि से कहा—तुम मेरे राज्य में चलो। उसने कहा—नहीं चलूंगा। सिकन्दर देखता रह गया। सिकन्दर की बात को टालने की क्षमता बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं में नहीं है। सिकन्दर का संकेत ही सबको प्रकम्पित कर देता है, उस स्थिति में एक अकिंचन साधु कह रहा है कि मैं नहीं जाऊंगा। बड़ा अजीब-सा लगा, देखता रह गया। बोला—साधु तुम नहीं जानते मैं कौन हूँ। सम्राट सिकन्दर हूँ। तुम्हें नहीं पता कि मेरे आदेश के अतिक्रमण का क्या परिणाम होता है। जानते हो? साधु ने कहा—‘जानता हूँ, फिर भी बता दो क्या परिणाम होता है।’ सिकन्दर ने कहा—यह है तलवार। परिणाम होगा, तुम मारे जाओगे। साधु ने कहा—किसको डराते हो? यह मौत का भय तो कभी समाप्त हो गया। मौत में मुझे मारने की क्षमता नहीं है।

‘मौत से मरता नहीं मैं,

मौत मुझसे मर चुकी है।’

किसको डराते हो तुम? मौत तो बेचारी मुझसे डरती है। तुम मुझे मौत से डराते हो? क्या मौत से मुझे डराना चाहते हो? मौत तो मुझसे डर चुकी है। मुझे क्या मारना चाहोगे? साधु की बात सुनी। सिकन्दर के हाथ से तलवार छूट गई।

बोला—मेरे पास जो अन्तिम साधन था मृत्यु का, उसे तो वह स्वीकार ही नहीं कर रहा है, कोई डर ही नहीं रहा है। भला कहीं न डरने वाले को कैसे डराया जाये? दुनिया बड़ी अजीब है कि डरने वाले को ही डराते हैं। जो नहीं डरता उसे डराने की ताकत किसी सत्ता में नहीं है, किसी शक्ति में नहीं है। दुनिया में ऐसी कोई शक्ति नहीं जो अभय को डरा सके। सब डरने वाले को डराते हैं। जो डरते हैं उन्हें, पुलिस भी डराती है। दूसरा आदमी भी डराता है, और क्या, चूहा भी डरा देता है। वह भी डरने वाले को बहुत डराता है। थोड़ा-सा खटका होता है तो नींद हराम हो जाती है, बड़ी अजीब स्थिति होती है। पर सब डराते हैं डरने वाले को। जो अभय बन गया, भयमुक्त बन गया, उसे डराने की किसी में भी ताकत नहीं होती। सिकन्दर परेशान हो गया और बोला—अच्छा महाराज! अभिवादन; अब जा रहा हूँ।

जिस व्यक्ति को बन्धन और वध का भय नहीं होता वह कभी भी बाहरी नियंत्रण से नियंत्रित नहीं होता। लोग कहते हैं कि नियन्त्रण पर नियंत्रण आ रहे हैं। कानून पर कानून, और इतने कानून की कानूनों का अम्बार लग गया। आदमी को पता ही नहीं लगता कि यह कानून है। अतिक्रमण हो जाता है तो न्यायालय में उपस्थित होना पड़ता है। वह कहता है कि मुझे इस बात का पता ही नहीं था। न्यायालय यह नहीं कहेगा कि तुम्हें पता था कि नहीं था। कानून बनाने वाले बनाते चले जाते हैं और पकड़ने वाले पकड़ते चले जाते हैं। यह क्यों हो रहा है ऐसा? डर के कारण हो रहा है। भय के कारण हो रहा है। बुराई करता है, मन में डरता है बुराई तो कर ली पर कहीं पकड़ा न जाऊँ। यह भय ही तो पकड़ा रहा है उसको। जंगल में जब शेर की दहाड़ होती है, बेचारे हिरण व अन्य पशु भयभीत हो जाते हैं, स्तब्ध हो जाते हैं, चलने की शक्ति कम हो जाती है। अगर वे दौड़ते जाएं तो सिंह कैसे पकड़ेगा उनको? पर इतने भयभीत हो जाते हैं कि सिंह को दौड़ने की जरूरत नहीं, अपने आप वे पशु उसके मुंह में आ जाते हैं। समूचे समाज में व्याप्त भय ही इस नियन्त्रण को जटिल से जटिल बनाता जा रहा है। इसका एक समाधान है। वह है—आत्मानुशासन का विकास। हमारे भीतर से अनुशासन जागे। अनुशासन जागने का अर्थ है कि वहां वध नहीं है, बन्धन नहीं है। वहां दो प्रेरणाएं काम कर रही हैं। एक संयम की प्रेरणा और दूसरी तपस्या की प्रेरणा। ये दो प्रेरणाएं प्रेरित करती हैं और आत्मानुशासन प्रगट हो जाता है। शरीर का अनुशासन, श्वास का अनुशासन, प्राण का अनुशासन, वाणी का अनुशासन और मन का अनुशासन—ये पांच अनुशासन इकट्ठे होते हैं तो फिर एक बनता है—आत्मानुशासन। आत्मानुशासन के ये पांच स्तंभ हैं, पांच आधार हैं, इन पांच अनुशासनों को उपलब्ध हुए बिना कोई भी व्यक्ति आत्मानुशासन को उपलब्ध नहीं हो सकता।

आत्मानुशासी व्यक्ति के लिए, आत्मानुशासन चाहने वाले व्यक्ति के लिए सबसे पहले शरीर को अनुशासित करना जरूरी होता है। वह होता है—संयम के द्वारा। उसे काय-सिद्धि करनी होती है, काया को साधना होता है। हाथ का संयम, पैर का संयम—ये दो बड़े संयम हैं शरीर के। पैर उठता है उसी दिशा में जिस दिशा में हम जाना चाहते हैं। विपरीत दिशा में एक चरण भी आगे नहीं बढ़ेगा। हाथ उठेगा उसी दिशा में जिस दिशा में हाथ को आगे बढ़ाना है। गलत दिशा में हाथ आगे नहीं बढ़ेगा।

हाथ का संयम, पैर का संयम, खड़े रहने का अभ्यास, बैठने का अभ्यास। बड़ा कठिन है खड़ा रहना, बड़ा कठिन है बैठना। बैठने का अभ्यास क्या सरल है? बड़ा कठिन है। ध्यान करते समय एक घण्टा, पौन घण्टा एक आसन में बैठना होता है। किसी का पैर सो जाता है, किसी का हाथ सो जाता है, किसी का शरीर सो जाता है। बड़ी कठिनाई का अनुभव होता है। और जब बदलने लगते हैं तो कभी एक पैर बदलो, कभी दूसरा और बदलते बदलते आसपास के भाव बदलने लग जाते हैं। बड़ा कठिन होता है शरीर का अनुशासन। शरीर पर अनुशासन करने वाला व्यक्ति तीन घंटा तक एकासन में बैठ सकता है, तीन दिन और तीन महीने और तीन वर्ष बैठ सकता है। शरीर पर अनुशासन करने वाला व्यक्ति तीन घंटे खड़ा रह सकता है, तीन दिन, तीन महीने और तीन वर्ष तक खड़ा रह सकता है।

कर्नाटक में बाहुबलि की प्रतिमा है। वह विश्व में सबसे बड़ी प्रतिमा है। सतावन फुट की वह पहाड़ में उत्कीर्ण की गई है, कुरेदी गई है। विलक्षण प्रतिमा है। हम लोगों ने आंखों से देखा है। उसका सहस्राब्दि महामस्तकाभिषेक समारोह मनाया गया। बाहुबलि खड़े हैं—कायोत्सर्ग की मुद्रा में। कब से खड़े हैं? प्रतिमा के रूप में तो एक हजार वर्ष से खड़े हैं किन्तु साधना-काल में भी एक वर्ष तक खड़े रहे। मुनि बन गए और कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े हो गए। खड़े रहे, खड़े रहे। दिन बीते, महीने बीते, पूरा वर्ष बीत गया। पूरे वर्ष तक अविचल मुद्रा में खड़े रहे। कितना कठिन है यह शरीर का अनुशासन। व्यक्ति कांप उठता है। एक घण्टा भी यदि खड़ा रहना हो तो बैठते समय शिकायत होती है कि पैर सो गया और खड़े रहते शिकायत रहेगी कि पैर थम्भा बन गया। सारा रक्त नीचे उतर गया और पैर इतना स्तब्ध रह गया कि पैर में चलने की क्षमता ही नहीं रही। किन्तु मनुष्य के भीतर कितनी क्षमता है उसका अनुमान नहीं किया जा सकता। मानवीय क्षमताओं के बारे में हमारी कल्पना ही नहीं होती। इतनी अज्ञात क्षमताएं हमारे मस्तिष्क में भरी पड़ी हैं कि मस्तिष्क का नब्बे प्रतिशत भाग तो काम ही नहीं आ रहा है। यह क्षमता का भण्डार पड़ा का पड़ा रह जाता है और शेष बचे दस प्रतिशत को काम में लेने वाला

कौन है? सामान्य आदमी तो दो-चार या पांच प्रतिशत को ही काम में लेता है। सात प्रतिशत को काम में लेने वाला एक अच्छा आदमी, भाग्यशाली आदमी बन जाता है और दस प्रतिशत को काम में लेने वाला तो महान आदमी, बड़ा आदमी बन जाता है। इस प्रकार नब्बे प्रतिशत शक्तियां तो सोई-की सोई पड़ी हैं। उन शक्तियों को जगा सकें, उन शक्तियों को प्रकट कर सकें, उस महास्रोत को खोल सकें तब कोई काम बनता है और तब यह अनुशासन प्रगट होता है। उस अनुशासन को, उन शक्तियों को जगाने की प्रक्रिया ध्यान के सिवाय आज तक कोई नहीं खोजी गई। उस महान अज्ञात स्रोत को उपलब्ध करने का उस अनन्तकाल से बन्द दरवाजे को खोलने के लिए कोई चाबी बन सकता है तो वह ध्यान बन सकता है।

शरीर का अनुशासन बहुत कठिन होता है तो श्वास का अनुशासन और भी कठिन है। मैं आपसे कहूँ कि इस कमरे में बैठने वाले व्यक्ति पांच मिनट श्वास नहीं लेंगे। कुम्भक करना होगा। पांच मिनट नाक को बिलकुल बन्द रखेंगे। मुझे लगता है कि कमरे में कोई मिलेगा ही नहीं। सब अपने-अपने आसन लेकर विदा हो जायेंगे कि जहां ऐसी असंभव बात कही जाती है वहां हम बैठकर ही क्या करेंगे?

कोई शास्त्रीयसंगीत का कार्यक्रम था। लोगों को निमन्त्रित किया गया था। हाल खचाखच भर गया। संगीत शुरू हुआ। कोई सिनेमा तो था नहीं। अब आलाप शुरू हुआ तो आधा-पौन घंटा तो आ.....आ.....आ.....करने में ही लग गया। लोगों ने सोचा कि अरे, यह क्या हो रहा है, सब उठकर चलते बने। सभी चले गए। एक आदमी बैठा रहा। आधा-पौन घंटा तो संगीतज्ञ की आंख ही नहीं खुली। जब आंख खुली तो देखा कि हाल तो खाली है, केवल एक आदमी बैठा है। उसने कहा-चलो, कोई बात नहीं। शास्त्रीयसंगीत बड़ा दुरूह होता है। लोग चले गए, कोई बात नहीं, लेकिन मुझे संतोष है, कम से कम अच्छा श्रोता तो मुझे मिला। वह बोला-‘बाबूजी! मैं संगीत-वंगीत कुछ नहीं जानता। यह जो दरी बिछी हुई है उसे ले जाने के लिए बैठा हूँ।’ मुझे लगता है कि दरी ले जाने वाला बैठा रहा, पर मैं कह दूँ कि पांच मिनट श्वास नहीं लेना है तो दरी वाला भी नहीं रहेगा। उसके लिए भी मुसीबत है, वह भी चलता बनेगा। इतना कठिन होता है श्वास का संयम! जो लोग श्वास शुरू करते हैं वे श्वास को ठीक लेना सीखते हैं। सम्यक् श्वास होता है-भलीभांति श्वास को लेना, भलीभांति छोड़ना और धीमे-धीमे रोकने का, संयम का अभ्यास करना। श्वास का संयम होता है, श्वास का अनुशासन होता है।

तीसरा है-प्राण का अनुशासन। यह उससे भी कठिन है, बड़ा कठिन है। श्वास का पता तो चलता है कि आ रहा है। यह जीवन का लक्षण है। श्वास चलता है तो आदमी जिन्दा है, श्वास नहीं आएगा तो आदमी कैसे जीएगा? पता चलता है

किन्तु प्राण तो और सूक्ष्म बन गया कि उसका पता ही नहीं चलता। पकड़ में भी नहीं आता। जब प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास में कहा जाता है कि प्राण के प्रकम्पनों को पकड़ें, प्राण के प्रवाह का अनुभव करें, प्राण के स्पन्दनों का अनुभव करें तो लोग कहते हैं कहां हो रहा है। यह तो भूल-भुलैया है। कुछ पता ही नहीं चलता। अरे! कैसे चलेगी? स्थूल जगत् में जी रहे हैं, सूक्ष्म जगत् की बात कर रहे हैं, कैसे पता चलेगा? सूक्ष्म को पकड़ने के लिए चित्त को भी सूक्ष्म होना होगा। जब तक चित्त सूक्ष्म नहीं होगा तो सूक्ष्म का पता ही नहीं चल सकेगा।

जब प्राण के अनुशासन की क्षमता जाग जाती है तो एक हाथ में तापमान को बढ़ाया जा सकता है, दूसरे हाथ में तापमान को घटाया जा सकता है। दाएं भाग के तापमान को बढ़ाया जा सकता है और बाएं भाग के तापमान को घटाया जा सकता है। उलटा किया जा सकता है। चाहे जिस अवयव को स्तब्ध किया जा सकता है और चाहे जिस अवयव को अधिक सक्रिय किया जा सकता है। कला का विकास, कौशल का विकास, शिल्पकर्म का विकास—ये सारे प्राण-शक्ति के चमत्कार हैं। प्राणशक्ति का चमत्कार है कि आंख के देखने मात्र से आदमी को वहीं का वहीं खड़ा रखा जा सकता है। आदमी को सुलाया जा सकता और आदमी को जगाया जा सकता है। ये सम्मोहन की सारी क्रियाएं प्राण-शक्ति के चमत्कार हैं। लोहे की सांकल को तोड़ा जा सकता है। ये सारे प्राण के चमत्कार हैं। प्राण पर अनुशासन होने का मतलब है स्वतःचालित नाड़ी पर हमारा नियन्त्रण हो जाता है।

चौथा है—वाणी का अनुशासन। वचन पर हमारा अनुशासन। बहुत कठिन होता है वाणी का अनुशासन करना। मौन का दिन है—मुंह से नहीं बोलेंगे। स्मृति आती है—क्या यह वाणी नहीं है। स्मृति शब्दातीत नहीं होती। चिन्तन आता है। वह भी वाणी है। चिंतन भाषातीत नहीं है? शब्दों के बिना चिंतन नहीं होता, चिंतन भी एक वाणी है। कल्पना होती है। कल्पना कहां से आई। आकाश से टपक गई क्या? भाषा के माध्यम से ही तो होगी। आप बोल नहीं रहे हैं। मन में कल्पना का चक्र चल रहा है। बोल ही तो रहे हैं। यानी बहिर्जल्प नहीं हो रहा है, अन्तर्जल्प हो रहा है। तर्क-शास्त्र में दो प्रकार के जल्प होते हैं—अन्तर्जल्प और बहिर्जल्प। आपका बहिर्जल्प नहीं है, किन्तु अन्तर्जल्प तो चल रहा है। आप सपना ले रहे हैं। क्या हो रहा है? बोल रहे हैं, सपने में भी भाषा है। वैज्ञानिक परीक्षण किए गए कि सपने के समय में भी मनुष्य का स्वरयंत्र सक्रिय होता है। स्वरयंत्र निष्क्रिय हो जाए तो फिर स्मृति नहीं हो सकती, कल्पना नहीं हो सकती, चिंतन नहीं हो सकता। यह सारी सक्रियता स्वरयंत्र की सक्रियता से ही हो सकती है। इसीलिए आपको निर्देश

दिया जाता है कि विशुद्धि-केन्द्र पर ध्यान केन्द्रित करें, कंठ की प्रेक्षा करें। जैसे-जैसे इसके गूढ़ रहस्य आपकी समझ में आते जाएंगे तब सही मूल्यांकन होगा कि हम क्या कर रहे हैं। अन्यथा तो ऐसे लगता है कि कंठ को देखो, इस जीभ को देखो, इनको तो क्या देखना है? रोज खा रहे हैं, देख रहे हैं जीभ को। स्थूल बात को पकड़ते हैं, समझ में नहीं आता। जैसे-जैसे गहरे उतरेंगे, रहस्य को पकड़ेंगे तब ज्ञात होगा कि कंठ को देखना कितना मूल्यवान होता है। जिस व्यक्ति ने कंठ पर कायोत्सर्ग करना सीख लिया, स्वरयंत्र को शिथिल करना सीख लिया, उसने बहुत सारी समस्याएं हल कर लीं। एक प्रश्न हो सकता है कि सामयिक समस्याएं हल कर लें तो आन्तरिक समस्याओं का समाधान भी मिल जाए, किन्तु समस्या केवल आन्तरिक ही तो नहीं है। समस्या केवल आवेगात्मक या संवेगात्मक ही तो नहीं है। यथार्थ की समस्याएं भी मुंह बाए खड़ी है। गरीबी है तो रोटी की चिन्ता, परिवार है तो लड़के-लड़कियों को पढ़ाई की चिन्ता, शादी की चिन्ता, कितना देहेज, कितनी यथार्थ की चिन्ताएं। ध्यान करने से वे समस्याएं नहीं सुलझेंगी। आपने दस दिन ध्यान का अच्छा अभ्यास किया, घर पर गए, ऐसा तो कोई जादू नहीं होगा कि लड़के-लड़कियों की शादी भी मजे में हो जाएगी, पढ़ाई के खर्चे के बिल भी आप चुका देंगे। यह तो नहीं होगा। यथार्थ की समस्याओं का समाधान करना पड़ेगा, तभी समाधान मिलेगा। बड़ी समस्या है। तो फिर ध्यान एक सामयिक उपचार ही रहा कि यहां दस दिन बैठ रहे, आराम से रहे, कायोत्सर्ग करते रहे। अच्छा लगा और जैसे ही उस भट्टी में गए वैसे ही आंच आने लगी। यह एक स्वाभाविक बात है। अगर कोई आदमी यह सोचे कि ध्यान के द्वारा खेती भी हो जाएगी, रोटी भी मिल जाएगी, गरीबी भी मिट जाएगी, विवाह-शादियां भी हो जाएंगी, पढ़ाई का खर्चा भी मिल जाएगा, कपड़े भी मिल जाएंगे तो ध्यान को ऐसा कल्पवृक्ष मान लिया कि सब कुछ हो जाएगा। धर्म को भी कुछ लोग कहते हैं कि धर्म करो, सब कुछ हो जाएगा, मैं मानता हूँ कि इससे बड़ा कोई झूठ नहीं हो सकता। यह तो बड़ा झूठ है। जिसकी जितनी सीमा, उसका उतना ही आकलन होना चाहिए। ध्यान कोई अनन्त और असीम शक्तिशाली नहीं है। ध्यान की भी अपनी सीमा है। वह अपनी सीमा में ही काम कर सकता है। आपके मानसिक तनाव को, भीतर से आने वाले तनाव को, आवेगों, संवेगों से आने वाले तनाव को मिटा सकता है। आप यह समझें कि वह रोटी भी उपलब्ध करा देगा तो बहुत झूठी कल्पना होगी। पर एक बात और समझें कि ध्यान रोटी तो नहीं दे सकता, विवाह शादी का खर्चा तो नहीं दे सकता, पढ़ाई का बिल व होटल का बिल चुकाने की बात तो नहीं कर सकता किन्तु इन यथार्थ की समस्याओं से जूझते समय जो परेशानियां होती हैं उनसे जरूर आपको बचा लेगा।

दो बातें होती हैं—(१) समस्या का सामना करना (२) समस्या से परेशान होना। ये बिलकुल दो बातें हैं। मुझे लगता है कि हिन्दुस्तान की गरीबी में और समस्याओं में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि समस्या को सुलझाने के लिए जिस प्रकार के चित्त की प्रेरणा चाहिए वह नहीं है, परेशान करने की प्रेरणा काम कर रही है। अगर हम इन दो बातों को अलग कर सकें, पानी में आकर पड़ी हुई गंदगी को साफ कर सकें, पानी को फिल्टर कर सकें, तो पानी बिलकुल साफ होगा। हम इस बात को नहीं समझ पा रहे हैं कि समस्याओं का समाधान खोजने में, समस्याओं से जूझने में जिस प्रकार के चित्त की आवश्यकता है वैसा हमारा चित्त नहीं है। जाते हैं समस्या का समाधान करने के लिए किन्तु परेशान चित्त के कारण एक और समस्या पैदा कर लेते हैं।

बच्चा जिद्द में है और उसकी जिद्द छुड़ाने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। यदि प्रेम से काम होता है तो बात बन जाती है किन्तु मेरी बात नहीं मान रहा है—आया, आवेश में दो-चार चांटे जड़ दिए, सुलझाना जहां का तहां रहा, बात और उलझ गई।

पड़ोसी से बातचीत करनी है, शांति के साथ करनी है—समझौते की बात कही, आवेश आया, लाठियां उठ गईं। बहुत सारी यथार्थ की समस्याओं को भी हम अपने द्वारा उलझा लेते हैं।

हम ऐसे चित्त का निर्माण करें जिससे समस्याओं का सामना करने में वह सक्षम हो। वह कभी समस्याओं से परेशान न हो।

इस प्रकार के चित्त के निर्माण के लिए आत्मानुशासन अपेक्षित है। आत्मानुशासन तब घटित होता है जब व्यक्ति में शरीर, श्वास, प्राण, वाणी और मन—इन पांचों पर अनुशासन करने की क्षमता विकसित होती है। इन सब अनुशासनों का घटक है ध्यान।

हम एक आत्मानुशासन को विकसित करने की दिशा में प्रस्थान करें।

मैं मानसिक सन्तुलन चाहता हूँ

हमारे पास काम करने लिए तीन साधन हैं—शरीर, वचन, और मन। इन तीन साधनों से हम जीवन-यात्रा का संचालन कर रहे हैं।

शरीर प्रमुख है। उसके बिना कुछ नहीं होता। वह पहली बात है। वचन इसलिए प्रमुख होता है कि बिना उसके सामाजिक संपर्क नहीं जुड़ता। वचन एक माध्यम है सामाजिक संपर्क का। एक आदमी दूसरे आदमी से जुड़ता है, उसमें सबसे बड़ा माध्यम वाणी बनती है। जिनके पास वचन नहीं है, वाणी नहीं है, वे समाज की रचना नहीं कर सकते। छोटे-मोटे टोले बना सकते हैं, पास में रह सकते हैं पर सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नहीं कर सकते। एक बहुत बड़ा साधन है—हमारा वचन। इन दोनों से भी शक्तिशाली माध्यम है हमारा मन, जिसके द्वारा मनुष्य ने कुछ विशेषता उपलब्ध की है। शरीर सब प्राणियों के होता है। भाषा सबमें नहीं होती पर पशु जगत् में भी होती है। किसी भाषा में दो शब्द मिलते हैं, किसी भाषा में चार शब्द मिलते हैं और किसी भाषा में छह शब्द मिलते हैं। आजकल पशुओं और पक्षियों की भाषा का भी पर्याप्त अध्ययन किया गया है। संपर्क की दृष्टि से शरीर से ज्यादा मूल्य हो जाता है वाणी का और वाणी से ज्यादा मूल्य हो जाता है मन का, क्योंकि मन सब प्राणियों में नहीं होता। जिनमें भाषा नहीं है उनमें मन नहीं होता। जिनमें भाषा है उनमें भी मन पूरा विकसित नहीं होता।

मनुष्य के पास पूरा विकसित मन है। उनमें बोलने की क्षमता भी है। और चिंतन करने की क्षमता भी है। एक आदमी तोता खरीदने गया। दुकान पर जाकर पूछा कि तोता चाहिए। कई पिंजड़े दिखलाए। मूल्य पूछा तो बतलाया कि सौ रुपये लगेंगे। बोला—बहुत मूल्य है। दुकानदार बोला—‘मूल्य बहुत है पर यह बोलना जानता है।’ ‘अच्छा’, कह कर ग्राहक चला गया। दूसरे दिन आया एक पिंजड़ा लेकर और बोला कि मुझे तोता बेचना है। दुकानदार ने पूछा—कितना मूल्य है? उसने कहा—‘पांच सौ रुपया।’ इतना मूल्य? मैं सौ रुपयों में तोता देता हूँ, दुकानदार ने कहा। वह बोला तुम्हें पता नहीं है। तुम्हारा तोता बोलना जानता है, मेरा तोता बोलना नहीं जानता, बड़ा दार्शनिक है, चिंतन करना जानता है। चिंतन में ही मस्त रहता है।

बोलने वाले तोते के सौ रुपये लगते हैं तो चिंतन करने वाले के पांच सौ रुपये होनी ही चाहिए। बोलने से अगला विकास है चिंतन करना, मनन करना।

मूल्य बढ़-चढ़ जाता है।

हमारे पास तीन शक्तिशाली साधन हैं। कार्य संचालन के लिए—शारीरिक क्षमता, वाचिक क्षमता और मानसिक क्षमता। यदि हम समस्या की दृष्टि से विचार करें तो भी शरीर एक समस्या है, वचन भी एक समस्या और सबसे जटिल समस्या है हमारा मन। शरीर इसलिए समस्या है कि बीमारियां सबसे अधिक शरीर में पैदा होती हैं। बुढ़ापा शरीर पर उतरता है। बुढ़ापा एक समस्या है। बीमारी एक समस्या है। दुःख का संवेदन एक समस्या है। वह शरीर के माध्यम से होता है तो शरीर भी एक समस्या है। वाणी भी समस्या है। जिस वाणी के द्वारा बहुत सारे कार्य सधते हैं, पर कभी-कभी ऐसा होता है कि इस वाणी के द्वारा बहुत सारी समस्याएं झेलनी पड़ती हैं। हम इतिहास को देखें, पुरानी घटनाओं को पढ़ें और जीवन व्यवहार का अनुभव करें तो पता चलेगा कि वाणी के द्वारा कब, किस प्रकार, कैसी समस्याएं जटिल बनी हैं?

जब अविवेक होता है वाणी का, तब बड़ी समस्या पैदा हो जाती है। एक वचन मुंह से निकल जाता है तो महासंग्राम जैसी स्थिति बन जाती है। एक समस्या है। इससे जटिल समस्या है—मन। जिसने मन को मना लिया, उसने शरीर को भी मना लिया और वाणी को भी मना लिया। दोनों मना लिए गए। मन स्वस्थ होता है, संतुलित होता है शरीर की बीमारियां भी बहुत कम हो जाएंगी।

आज का युग 'साइकोसोमेटिक डिजीजेज' का युग है। शारीरिक बीमारियां कम होती हैं, अधिक मनोकायिक बीमारियां होती हैं। मानसिक बीमारियां ही शरीर पर उतरती हैं। आदमी दवा लेता चला जाता है। वह सोचता ही नहीं है और शायद आजकल के डॉक्टर भी कम ध्यान देते हैं। रोगी को इतनी तेज दवाइयां देते हैं, इतनी भारी डोज देते हैं, इतनी एण्टिबायोटिक्स के प्रयोग चलते हैं कि प्रतिक्रिया होती चली जाती है। एक बार जो दवा के चक्कर में फंस जाता है वह तो फंसता ही जाता है। फिर तो फंसते ही चले जाओ आगे से आगे। ऐसी अनवस्था हो जाएगी कि जिसका कहीं अन्त ही नहीं आएगा।

जिस व्यक्ति ने मन को साधा है उसके दवाइयां भी कम हो जाती हैं। हमारा अनुभव है कि शिविर में आने वाले लोग दवाइयों की पेटियां भर-भर कर लाते हैं। किन्तु जब वापस जाते हैं तो पेटियां वैसी की वैसी उनके साथ सुरक्षित चली जाती हैं। दवाइयों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो दवाई लेने के लिए साधन सामग्री चाहिए, वह उनको मिलती नहीं, तब दवाई की जरूरत क्या हो सकती है? जहां मानसिक प्रशिक्षण और मन को साधने की क्रिया होती है और मन स्वस्थ होता है, वहां बेचारे शरीर को फिर दवाई की जरूरत ही क्या है? कोई

आवश्यकता नहीं होती। मन के सध जाने पर शारीरिक समस्याएं भी कम होती हैं। मन के सध जाने पर वाचिक समस्याएं भी कम होती हैं। जब मानसिक उत्तेजना होती है तो वचन की जटिलता बढ़ती है, वाणी का दुरुपयोग होता है। जब मन संतुलित हो जाता है तो वाणी की समस्या अपने आप निरस्त हो जाती है। अलग से प्रयत्न करना आवश्यक नहीं होता। बोलेगा, बहुत संतुलित बोलेगा। असहिष्णुता नहीं होगी। अधैर्य नहीं होगा। इतना अधैर्य होता है आदमी में कि सामने वाला पूरी बात कहता नहीं, पहले ही वह उबल पड़ता है। अरे! सुनो तो सही कि अगला क्या कहना चाहता है। किसे अवकाश है कि पूरी बात सुने! पहले ही उबल पड़ता है, चाहे सामने वाला व्यक्ति अच्छी बात कहना चाहता हो। पर पता ही नहीं चलता। तो यह सारा मानसिक असंतुलन के कारण होता है। यदि हम अपनी वैयक्तिक समस्याओं, सामाजिक समस्याओं, पड़ोसी की समस्याओं—इन सारी समस्याओं का अध्ययन करें तो पता चलेगा कि इन समस्याओं को बढ़ाने में हमारा मानसिक असंतुलन एक ईंधन का काम कर रहा है। ऐसा ईंधन है जो निरन्तर आग को प्रज्वलित रख रहा है। यह ज्योति बुझती नहीं, शाश्वत ज्योति है। कुछ ज्योतियां तो ऐसी हैं जो कि जलती हैं और बुझ जाती हैं। आज की बिजली का तो भरोसा ही नहीं कि दिन में कितनी बार आए और कितनी बार चली जाए। पर यह मानसिक असंतुलन की बिजली तो ऐसी है कि कभी जाती ही नहीं, हमेशा अपना चमत्कार दिखाती रहती है। यह बहुत बड़ी समस्या है मानसिक असंतुलन की। क्यों होती है, इस पर भी कुछ मीमांसा करें।

इसका एक कारण है—उत्तेजना। हमारी आवेशात्मक और आवेगात्मक प्रवृत्तियों पर हमारा नियंत्रण नहीं है। हर बात में उत्तेजना आ जाती है। ध्यान का अर्थ बहुत महत्त्वपूर्ण है कि हम अपने आप पर नियंत्रण करने की स्थिति में आ जाते हैं। ध्यान से सारे आवेग समाप्त हो जायेंगे, ऐसा मैं नहीं कहना चाहता। यह तो बहुत आगे की बात हो सकती है। पर यह भी कम बात नहीं है कि जब चाहें तब दरवाजे को बन्द कर सकते हैं और जब चाहें तब उस पर ताला लगा सकते हैं। वह भी तो बहुत बड़ी बात है। इसीलिए दरवाजे का, ताले का, कुंजी का विकास हुआ कि आदमी सुरक्षित रह सके। यह अपनी सुरक्षा का एक बहुत बड़ा माध्यम बनता है।

हमारी एक ऐसी चेतना जाग जाए कि आवेश आने की स्थिति में हम तत्काल दरवाजा बन्द कर दें और शान्त रह सकें। यह कम बात नहीं है, बहुत महत्त्वपूर्ण बात है और केवल मनुष्य ही ऐसा कर सकता है। पशु नहीं कर सकता। पशु के सामने उत्तेजना की स्थिति आएगी, वह उत्तेजना में चला जाएगा। चाहे भैंस हो, भैंसा हो, सूअर हो, रीछ हो, कोई भी हो, वे ऐसे आवेश में आएंगे, फुफकारने

लग जाएंगे और तमतमा उठेंगे। मनुष्य में यह क्षमता है कि आवेग की स्थिति होने पर भी वह अनाविष्ट रह सकता है और आवेश पर नियन्त्रण कर सकता है। इस चेतना का विकास मनुष्य ने किया इसीलिए वह संतुलन का जीवन जी सकता है।

एक छोटा बच्चा भी उत्तेजना में आ जाता है। बड़ा आश्चर्य होता है कि दो-चार वर्ष के बच्चे भी इतना गुस्सा करते हैं कि देखते ही बनता है। एक भाई आया और आकर बोला कि यह छोटा बच्चा है, इसे गुस्सा बहुत आता है। उसकी मां बैठी थी, पिता भी बैठा था। मैंने पूछा उसकी मां से कि गुस्सा तुम्हें ज्यादा आता है या इसके पिता को गुस्सा ज्यादा आता है। उसकी मां ने कहा—उसके पिता को। और शिकायत भी पिता कर रहा था। मैंने कहा कि यह तो आनुवंशिकता है, पैतृक संस्कार है। तुम स्वयं इतना गुस्सा करते हो और बच्चा इतना गुस्सा करता है तो तुम्हें बुरा क्यों लगना चाहिए? नहीं लगना चाहिए। बड़ा आश्चर्य होता है, पिता गलियां बके, गुस्सा करे, कुछ भी करे, बुरा नहीं और लड़का वैसा करता है तो बुरा लगता है। यह बड़ी अजीब मनःस्थिति है। जब मैं स्वयं करता हूँ और वैसा सामने वाला करता है तो मुझे बुरा क्यों लगना चाहिए। दूसरे के आचरण बुरे लगे तो अपने आचरण भी बुरे लगने चाहिए। पर वे तो कहते हैं कि हम तो अब बड़े हो गए, यह तो ऐसे ही चलेगा, इसमें अब क्या फरक पड़ने वाला है? हर आदमी दूसरे को सुधारने की बात ज्यादा करता है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति कभी दूसरे को सुधारने की बात नहीं करेगा। दूसरे को सुधारने की बात राजनीति की बात है और अपने आपको सुधारने की बात आत्मानुशासन की या ध्यान की बात है। ध्यान करने वाला व्यक्ति अपना प्रयोग करेगा या अपने को अच्छा बनाने का प्रयत्न करेगा। दूसरा कोई चाहेगा तो मार्गदर्शन दे सकेगा कि यह मार्ग है तुम चाहो तो करो, न चाहो तो जैसी तुम्हारी इच्छा। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं।

हम अध्यापकों का शिविर ले रहे हैं। पहले पुलिस वालों ने ध्यान का अभ्यास किया, फिर और लोगों ने किया। यह शिविर का सिलसिला बराबर चल रहा है। हम इस बात को सदा मानकर चलते हैं कि कौन व्यक्ति क्या कर रहा है? अभ्यास कर रहा है या नहीं कर रहा है? रुचि ले रहा है या नहीं ले रहा है? जानते हैं, पता है कि क्या कैसा हो रहा है, फिर भी हमारा कोई आग्रह नहीं कि ऐसा ही करना होगा। फिर आरोपण हो जाएगा। ध्यान है वहां आरोपण नहीं चल सकता। मात्र मार्गदर्शन हो सकता है। यह मार्ग है, आप चाहें तो करें, न चाहें तो आपकी स्वतन्त्रता है। जहां ध्यान की स्वतंत्रता में ही बाधा आए तो फिर वह ध्यान नहीं वह तो फिर एक दंडारोपण हो गया, एक कारावास हो गया। यह कारावास नहीं, यह

एक स्वतंत्रता की चेतनाभूमि है, जहां हर व्यक्ति स्वतन्त्रता से काम करे। आपके मन में प्रश्न हो सकता है—फिर व्यवस्था क्यों? अनुशासन क्यों? यह व्यवस्था, अनुशासन तो अनेक आदमी हैं इसीलिए है। इसे आप ध्यान के साथ न जोड़ें। यह प्रश्न कोई ध्यान का प्रश्न नहीं है, यह तो समूह का प्रश्न है। यह व्यवस्था और बाहर का नियम है, जहां समूह होता है वहां जरूरी होता है। ध्यान में तो पूरी स्वतंत्रता है। मैं कितना ही बलपूर्वक कह दूँ कि आपको ध्यान करना ही पड़ेगा। मान लीजिए, आपने उस आग्रह को नहीं टाला। आंखें बन्द कर लीं, बैठ गए। क्या ध्यान हो गया? ध्यान कहां होगा? शरीर ध्यान की मुद्रा में बैठ गया पर ध्यान तो तब होगा कि जब आप करना चाहेंगे। नहीं करना चाहेंगे तो फांसी की सजा भी किसी को ध्यानी नहीं बना सकेगी।

जो क्रिया अपनी आत्मा की सर्वथा स्वतंत्र और पूर्ण स्वतंत्र चेतना की क्रिया है उसे कभी आरोपित नहीं किया जा सकता, थोपा नहीं जा सकता। यह बिलकुल स्वतंत्रता का प्रश्न है और इसमें बाहरी अनुशासन काम नहीं देता। किन्तु आश्चर्य तो वह होता है कि एक व्यक्ति स्वयं वैसा आचरण करता चला जाता है, पर पिता को अपने पुत्र का, पति को अपनी पत्नी का वही काम अच्छा नहीं लगता। इससे बड़ा क्या आश्चर्य होगा और क्या विडम्बना होगी!

रसोई में कांच की गिलास गिर गई, फूट गई और थोड़ी देर बाद एक झंकार हुआ और वह भी समाप्त हो गया। लड़का बाहर बैठा था, उसने पिता से कहा—कांच की गिलास फूटी है, लगता है—मां के हाथ से फूटी है। तो पिता के मन में एक जिज्ञासा जाग गई। नौकर को भेजा कि पता करो किसके हाथ से फूटी? क्या हुआ है? नौकर पता करके आया, बोला—सेठानीजी के हाथ से कांच की गिलास गिरी, फूट गई। पिता ने अपने पुत्र से कहा—तुम तो यहां पर बाहर बैठे थे, तुम्हें कैसे पता चला? क्या कोई अतीन्द्रिय ज्ञान हो गया? क्या कोई तृतीय नेत्र खुल गया है? कैसे पता चला की तुम्हारी मां के हाथ से फूटी है? उसने कहा—मुझे पता चल गया। पिता ने पूछा—कैसे पता चला? बेटे ने कहा—यह तो स्वाभाविक ही है कि मां के हाथ से फूटी थी इसीलिए एक मिनट में ही उसका झंकार समाप्त हो गया। मेरी पत्नी के हाथ से फूटती तो यह झंकार चलता ही रहता, मां का झंकार भी साथ ही चलता।

हमारी बड़ी विचित्र स्थिति चलती है। एक आदमी स्वयं आचरण करता जा रहा है, स्वयं व्यवहार करता जा रहा है, वैसा ही व्यवहार अपने से छोटा करता है तो बड़ा अप्रिय लगता है। शराबी पिता अपने पुत्र के लिए चाहता है कि वह शराबी न हो जाए। एक धूम्रपान करने वाला नहीं चाहता कि लड़का भी धूम्रपान

करना सीखे। हमारे पास एक व्यक्ति आया जो बड़ा सटोरिया था। आकर बोला—मेरे लड़के को सट्टा न करने का संकल्प दिला दें। मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, अरे भाई! तुम तो इतना सट्टा करते हो और तुम यह चाहते हो? वह बोला—हां, मैं जानता हूँ कि सट्टा करने वाला कितना दुःख भोगता है। मैं चाहता हूँ कि मेरा लड़का तो कम से कम इसमें न फंसे—यह कैसे होगा? तुम तो करते जाओ और तुम्हारा लड़का इसमें न फंसे यह कैसे संभव होगा? यह बात समझ में नहीं आती। अपना आचरण नहीं बदलता, पर अपने लड़के को, अपनी पत्नी को बचाना चाहता है। इसके पीछे एक ही कारण है—आवेश कम नहीं हो पा रहा है। उत्तेजना कम नहीं हुई है। एक आवेश वायु का होता है, जिसे आयुर्वेद के ग्रंथ में, चरक और सुश्रुत में, भूतावेश भी कहा गया है। बहुत सारे आवेश वायु के होते हैं। वे भूत के आवेश मान लिए जाते हैं और कभी-कभी प्रेतात्मा का आवेश-प्रवेश हो जाता है। ये दो आवेश तो होते ही हैं और इनसे भी बड़ा आवेश होता है—मूर्च्छा का। आदमी में इतनी घनी मूर्च्छा होती है कि खुली आंख होने पर भी देख नहीं पाता। कान खुले हैं पर सुन नहीं पाता, पता ही नहीं चलता। यह स्थिति ध्यान के द्वारा समाप्त की जा सकती है। मूर्च्छा को ध्यान के द्वारा ही तोड़ा जा सकता है और जब तक मूर्च्छा नहीं टूटती, यह मानसिक संतुलन नहीं आ सकता। मानसिक असंतुलन का बड़ा कारण है—उत्तेजना। दूसरा कारण है—आग्रह। मनुष्य में आग्रह होता है, बात की पकड़ होती है। एक बात को पकड़ लेता है। दुःख पाता है, फिर भी छोड़ता नहीं है। संतुलन को खो देता है। अनुभव करता है कि अच्छा नहीं है फिर भी बात पकड़ ली सो पकड़ ली। मैं ऐसा कमजोर नहीं हूँ कि पकड़ ली और छोड़ दूँ। छोड़ने वाले वे दूसरे लोग होते हैं। मैं कोई बनिया नहीं हूँ कि मूँछ ऊंची हो या नीची हो। मैं तो पकड़ का आदमी हूँ। पकड़ को कभी नहीं छोड़ता।

यह आग्रह भी बड़ा असंतुलन पैदा करता है, बड़े असमंजस में डाल देता है। आदमी आया और रुपया चुकाना था। सामने लाकर साठ रुपये रख दिए। उसने पूछा कि भाई! मैंने सत्तर रुपये दिए थे, पैंतीस एक बार और पैंतीस एक बार। ये साठ कैसे लाए? उसने कहा—नहीं, पैंतीस-पैंतीस साठ होते हैं। उसने कहा—नहीं पैंतीस और पैंतीस सत्तर होते हैं। उसने कहा—तुम हजार बार कहो, पर मैं तो नहीं मानता। मैं तो यही मानूंगा कि पैंतीस और पैंतीस साठ होते हैं और ये साठ रुपये मैंने तुम्हारे ला दिए। क्या किया जाए? बड़े असमंजस की स्थिति बन जाती है।

आग्रह बहुत असंतुलन पैदा करता है। आप सूक्ष्मता से ध्यान देंगे तो पता

चलेगा कि पारिवारिक कठिनाइयों में, जिद्द की प्रकृति सबसे ज्यादा तकलीफ देती है। एक बात पकड़ ली अब नहीं छोड़ेंगे। समूचे परिवार में एक कलह का वातावरण बन जाता है। शायद आप लोग ज्यादा अनुभव कर सकते हैं, भुक्तभोगी भी हो सकते हैं। हमें तो इतना अनुभव नहीं है। सुनते हैं, इसके परिणाम से एक घर में कई दीवारे खिंच जाती हैं, कई चूल्हें जल जाते हैं। चूल्हे जल जाएं, दीवारें खिंच जाएं, कोई बड़ी बात नहीं, किन्तु कटुता के कारण बाप और बेटा दस-दस वर्ष तक मिलते नहीं। बाप दूसरे व्यक्ति के आने पर हंस-हंस कर बातें करेगा, किन्तु लड़का सामने आने पर आंख ऐसे घुमा लेता है, चेहरा घुमा लेता है और अकस्मात् ही सामने आ जाए तो आंखों में गर्मी उतर जाती है। बड़ी अजीब स्थिति होती है। इसमें आग्रह का बहुत बड़ा योग होता है।

मानसिक असंतुलन का तीसरा कारण है—पक्षपात। पक्षपात भी कम कारण नहीं है। अपना संतुलन भी बिगड़ता है और सामने वाले का संतुलन भी बिगड़ता है। ये शिकायतें भी बहुत आती हैं कि मैं पिता का विनीत था और अभी हूँ किन्तु पिता ने ऐसा पक्षपात किया कि एक बेटे को तो सारा धन दे दिया और मुझे अंगूठा दिखा दिया। बड़े भाई के प्रति छोटे भाई का, मां के प्रति लड़के का और सौतेली मां हो तो फिर कहना ही क्या! यह पक्षपात का भी एक बड़ा प्रश्न है। मालिक का भी अपने कर्मचारी के प्रति इस पक्षपात के कारण मानसिक संतुलन गड़बड़ा जाता है।

असंतुलन का चौथा कारण है—असंतुलित आहार। असंतुलित आहार के कारण भी संतुलन बिगड़ जाता है। इस विषय पर कम ध्यान दिया जा रहा है, किन्तु आज की वैज्ञानिक खोजों ने इस बात पर बहुत प्रकाश डाला है। पागलपन जो होता है वह केवल मानसिक उलझनों के कारण नहीं होता। असंतुलित भोजन के कारण भी आदमी पागल बन जाता है। यह जो पोषण के निर्देशन का विषय है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है और ध्यान की साधना करने वाले व्यक्ति के लिए यह जानना बहुत जरूरी है। दस रोटियां खाएंगे, कोरा अन्न ही अन्न खाया, कार्बोहाइड्रेट खाया, श्वेतसार खाया, पेट तो भर जाएगा पर मस्तिष्कीय संतुलन बिगड़ जाएगा। प्रोटीन भी चाहिए, वसा भी चाहिए, लवण भी चाहिए, सब चाहिए। जब भोजन पूरा संतुलित होता है तो मस्तिष्क भी ठीक काम करता है, संतुलन उतना नहीं बिगड़ता, किन्तु जिस व्यक्ति को बहुत गुस्सा आता है, वह बहुत चिड़चिड़े स्वभाव का हो जाता है, बार-बार लड़ाई-झगड़ा करता है, दिन भर परिवार को सताता है तो उसको यह भी सोचना चाहिए कि कोई न कोई आहार का दोष इसके साथ जुड़ा हुआ है।

भगवान महावीर की एक यात्रा हुई थी आदिवासी बस्ती में—संथाल

परगना जिले में। बतलाया गया कि वे लोग निरन्तर रूखा भोजन करते थे। चिकनाई नहीं खाते थे इसलिए उनमें गुस्सा ज्यादा बढ़ गया और जो तपस्वी होते हैं, ज्यादा उपवास करते हैं, रूखा भोजन करते हैं उनमें गुस्से की मात्रा बढ़ जाएगी। प्रसिद्ध है तपस्वियों का गुस्सा। कितने क्रोधी होते थे वे। दुर्वासा के बारे में प्रसिद्ध बात है। तपस्या के साथ गुस्सा बढ़ेगा। तपस्या के साथ ध्यान चलेगा तो ऊर्जा ध्यान में खप जाएगी, गुस्सा नहीं बढ़ेगा। कोरी तपस्या ही चलेगी तो गुस्सा बढ़ने की संभावना है। रूखे भोजन से गुस्सा बढ़ जाता है, स्वभाव के चिड़चिड़े होने में, लड़ाई-झगड़े की आदत ज्यादा होने में भोजन का भी बहुत बड़ा हाथ है और इस बात पर अभी हम ध्यान ही नहीं देते हैं। हम भोजन को तो ऐसा मानते हैं कि यह पेट क्या है—गड्ढा है। खाली है और भर दो, बस। अरे ! किससे भरोगे? यह सोचने की क्या जरूरत है? भूख लगी और गड्ढा भर गया। बस, अब ठीक है। गड्ढा तो भर गया पर वह भरा हुआ गड्ढा क्या करेगा, इसका भी कोई अनुमान हमें होना चाहिए। परिणाम क्या होगा? उधर भी तो हमारा ध्यान जाना चाहिए। उस बात पर ध्यान नहीं जाता। ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है—भोजन का विवेक। आपके सामने प्रश्न होगा कि आज की गरीबी में संतुलित भोजन की बात सोची जा सकती है? कितना मंहगा हो गया भोजन? एक सामान्य गरीब आदमी, सामान्य आजीविका वाला आदमी कैसे यह कर सकता है और आज का शिक्षक भी कोई समृद्ध व्यापारी तो नहीं है। समृद्ध तो नहीं है। बड़ी कठिनाइयाँ हैं—आजीविका के सामने। पांच सौ, सात सौ या हजार रुपये मिलते हैं तो चटनी हो जाते हैं, रोटी की बात नहीं, कोरी चटनी में चले जाते हैं। इस भयंकर मंहगाई में संतुलित भोजन की बात कैसे हो सकती है? प्रश्न है, सचमुच प्रश्न है। पर कोई प्रश्न ऐसा नहीं होता कि जिसके साथ समाधान न जुड़ा हुआ हो। संतुलित भोजन की भी ऐसी तालिकाएँ हैं कि जो सामान्य भोजन में पूरी हो सकती हैं। तुलसी अध्यात्म नीडम् का एक यह भी कार्यक्रम है कि संतुलित भोजन के बारे में प्रशिक्षण देना। शिविरार्थियों को यह समझाना और वहाँ ध्यान करने के लिए, साधना करने के लिए जो लोग आते हैं, उन्हें इस विषय पर प्रशिक्षित करना कि सामान्य आर्थिक व्यवस्था में भी भोजन को कैसे संतुलित किया जा सकता है। बहुत अच्छा प्रोटीन दूध से मिलता है। जीरा तो सामान्य भोजन में काम आने वाली चीज है, उसमें लोहा होता है और भी सामान्य-सामान्य चीजों में ऐसे तत्त्व हैं। बात केवल यही है कि उनके विषय में हमारी जानकारी नहीं और कभी इस दृष्टि से सोचा नहीं कि भोजन संतुलित होना चाहिए।

शरीर में अनेक अंग काम कर रहे हैं। तिल्ली, गुर्दा, हार्ट, मस्तिष्क,

नाड़ियाँ—इन सबको अलग-अलग प्रकार के रसायन और तत्त्व चाहिए। अलग-अलग जरूरत है। कुछ लोग इतना नमक खाते हैं, ऊपर से डालते ही चले जाते हैं। अरे! इतना नमक खाते हो, जीभ को भी अच्छा लगता होगा पर बेचारे गुर्दे से भी सलाह तो करो कि तुम्हें कैसा लगता है। कितनी परेशानी है गुर्दे को। अधिक नमक खाने वाले गुर्दे की, किडनी की बीमारी से परेशान न हो, यह कैसे संभव होगा? क्योंकि शरीर को तो इतना नमक चाहिए नहीं और जो विजातीय है उसे निकालना पड़ता है बेचारे गुर्दे को। छोटे से गुर्दे के पास नब्बे लाख छलनियाँ हैं। सारी छलनियों से काम लेना पड़ता है, फिर भी खाया हुआ सारा विजातीय तत्त्व निकालने में बेचारा परेशान हो जाता है। इतनी छलनियाँ चलती हैं, किसी चक्की के पास जो आटा पीसने वाली है इतनी छलनियाँ नहीं मिलती। पर आदमी निगलता जाता है, डालता जाता है पेट में। पर कभी गुर्दे की परेशानी का अनुभव ही नहीं करता। लीवर की परेशानी का अनुभव ही नहीं करता कि लीवर जितना पाचक रस डालेगी उतना ही तो छोड़ेगी। अवशेष गया हुआ पचेगा कैसे—यह पता ही नहीं है। चीनी खाते हैं। इतनी चीनी खाते हैं, खाने में अच्छी लगती है पर कभी आंतों से भी पूछो, पक्वाशय से भी पूछो कि कैसा होता है? इतनी अम्लता बढ़ जाती है कि सारी परेशानियाँ पैदा करती हैं। चीनी खाने में मीठी लगती है और परिणाम क्या होता है, खटाई बढ़ती है। ज्यादा चीनी खाने वाले को खट्टी डकारें आती हैं। अपच होता है। आंवला खट्टा लगता है और विपाक मीठा होता है। भोजन का संतुलन होना चाहिए। बहुत बड़ी समस्या है, इस बारे में ध्यान नहीं देते और भीतर में मिथ्या आहार के कारण बहुत दूषित रसायन बनते हैं और वे मनुष्य को फिर चिड़चिड़ा बनाते हैं या ज्यादा गुस्सैल बनाते हैं, या बात-बात में उत्तेजित कर देते हैं या ज्यादा कामवासना को जगाते हैं। इन सारी विकृतियों को पैदा करने में भोजन का बहुत बड़ा हाथ है। मानसिक असंतुलन का चौथा कारण है—असंतुलित भोजन।

पांचवां कारण है—नाड़ी-संस्थान की दुर्बलता। नाड़ी-संस्थान के दो मुख्य अंग हैं—एक मस्तिष्क और दूसरा सुषुम्ना का सारा हिस्सा। सुषुम्ना-शीर्ष और सुषुम्ना-स्पाइनल कॉर्ड (Spinal Cord)। ये नाड़ी संस्थान के दो महत्त्वपूर्ण अंग हैं। जिसका स्पाइनल कॉर्ड या पृष्ठरज्जु दूषित होता है, उसका संतुलन बिगड़ जाता है। आप लोगों को कठिनाई होती है सीधे बैठने में। अटपटा लगता है। कई बार कहा जाता है कि पृष्ठरज्जु को सीधा रखें। अरे ! इसमें आपका कितना हित छिपा हुआ है। पृष्ठरज्जु सीधा रहता है तो आप शारीरिक और मानसिक कठिनाइयों से बच जाते हैं। बैठने का यह ढंग है कि या तो लोग झुककर बैठेंगे या टेढ़े बैठेंगे। आयुर्वेद का शास्त्र—चरक कहता है कि पानी पीओ तो समकाय—सीधे रहो। टेढ़े

होकर पानी मत पीओ। किसी से बात करनी हो तो टेढ़े होकर मत करो। रोटी खानी हो तो टेढ़े होकर मत खाओ। श्वास भी लेना हो तो टेढ़े होकर मत लो। सम रहो, जिससे कि संतुलन बराबर बना रहे। टेढ़े हुए तो सारी क्रियाओं में अन्तर आने लग जाएगा।

नाड़ी-संस्थान की दुर्बलता, पृष्ठरज्जु की दुर्बलता और मस्तिष्क की दुर्बलता—ये सब असंतुलन के कारण बन जाते हैं।

आजकल एक चिकित्सा पद्धति चल रही है—ओष्टियोपैथी। इस चिकित्सा में और कुछ नहीं किया जाता, केवल स्पाइनल कॉर्ड पर कुछ प्रेशर दिया जाता है। सारे रोगों की चिकित्सा करते हैं। यहां रोगों की जड़ है। यहीं से सारे शरीर में नर्वस् जाते हैं, फैलते हैं। तंतुओं का, स्नायुओं का और धमनियों का जाल बिछा हुआ है, सब यहीं से होकर गया है। मूल यही है। यहीं से सारे अलग-अलग होते हैं। यह हमारा केन्द्रीय नाड़ी-संस्थान है और इसके दोनों ओर अनुकम्पी और परानुकम्पी नाड़ी-संस्थान हैं। यहीं से सारा का सारा संचालन हो रहा है। जब नाड़ी-संस्थान ही दुर्बल हो जाता है तो फिर संतुलन नहीं आएगा। ध्यान होगा ही नहीं, करे भी क्या? ध्यान तो तभी हो सकता है जब नाड़ी-संस्थान मजबूत होता है। कोई आदमी भारी-भरकम है—आपको लगेगा कि वह बड़ा हट्टा-कट्टा है, बड़ा स्वस्थ है। यदि शरीर में मांस कम है तो लगेगा कि यह तो थका, पतला-दुबला आदमी है। आप उनको कमजोर मान लेंगे और उस भारी-भरकम को शक्तिशाली मान लेंगे। यह मानना सही नहीं होगा।

‘तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः’—जिसमें तेज है वह बलवान होता है, स्थूल में कोई विश्वास नहीं होता। मांस का काम तो बहुत छोटा काम है। हमारे शरीर में मूल है—नाड़ी-संस्थान। जीवन का अर्थ है—नाड़ी-संस्थान की सक्रियता। दो ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली हैं—एक है नाड़ी-संस्थान और दूसरा है ग्रन्थि-संस्थान। ये ही सारा प्रकाश फैला रहे हैं। सब कुछ करा रहे हैं। मांस कोई बड़ी बात नहीं है। दूसरी धातुओं में उतनी ताकत नहीं है।

एक आदमी को ज्ञान हो रहा है कि अंगुली हिल रही है, थोड़ा-सा छुआ पता चल गया। किस आधार पर यह ज्ञान हुआ? जितने सेसेशन होते हैं, जितने संवेदन होते हैं, वे सब नाड़ी-संस्थान के स्तर पर होते हैं। दो प्रकार के नर्वस् होते हैं—मोटर नर्वस् और सेंसरी नर्वस्। सेंसरी नर्व के द्वारा हमें ज्ञान होता है और मोटर नर्व के द्वारा क्रिया होती है। किसी अंगुली से कुछ छुआ तो सेंसरी नर्व से पता चल गया कि कोई ठंडी चीज छुई है और अंगुली हिलाने की जरूरत पड़ी कि उस चीज को हटा देना है तो हमारे क्रियातंतु काम करने लगे। उसको हटा दिया।

सारा ज्ञान और क्रिया का संचालन इन नाड़ियों के द्वारा होता है। नाड़ी-संस्थान कमजोर हो जाता है तो सारा संतुलन गड़बड़ा जाता है।

जो व्यक्ति अपने आवेशों, आवेगों पर नियन्त्रण करना नहीं जानता, धीमे-धीमे उसका नाड़ी संस्थान कमजोर होता चला जाता है। एक बार गुस्सा आने का मतलब है कि आपके नाड़ी-संस्थान पर एक तेज धक्का दे दिया। अब बार-बार धक्के मारते ही चले जाएंगे बेचारा कब तक सहेगा। बहुत सहता आया है। इतना सहन करता है कि आपका लड़का भी इतना सहन नहीं करता, आपकी पत्नी भी इतना सहन नहीं करती, वह भी आपको ठुकरा देती है। पर बेचारा नाड़ी-संस्थान तो ऐसा है कि मौनभाव से आपके धक्कों को सहन करता जाता है। आखिर जब देखता है कि बड़ा परेशान कर रहा है तो टूटना शुरू कर देता है। तब आदमी असंतुलित होता है, विक्षिप्त होता है और होते-होते आदमी कभी अर्द्ध-पागल की स्थिति में और कभी पूरे पागल की स्थिति में चला जाता है।

मानसिक असंतुलन के ये पांच कारण हमारे सामने हैं। हम चाहते हैं मानसिक संतुलन बना रहे। हम इसलिए चाहते हैं कि मन स्वस्थ रहे। मन शान्ति में रहे। उसका यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—शरीर-प्रेक्षा, शरीर को देखना। इससे नाड़ी-संस्थान दृढ़ होता है और कुछ रसायनों की पूर्ति भी करता है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि कुछ विटामिन हमारा शरीर पैदा करता है। सब बाहर से ही हम नहीं लेते हैं। हम भीतर से भी लेते हैं। सूर्य का ताप लगता है और विटामिन 'डी' अपने आप आ जाता है। इसका सबसे अच्छा स्रोत है—सूर्य का ताप। और भी बहुत सारे रसायन, प्रोटीन हमारा शरीर पैदा करता है पर करेगा तब जब हम अनावेग की स्थिति में रहेंगे। यह ध्यान का प्रयोग, मानसिक संतुलन का प्रयोग केवल मोक्ष पाने के लिए ही नहीं है, वर्तमान जीवन को सुख से जीने के लिए भी है।

जिस धर्म के द्वारा, साधना के द्वारा वर्तमान की समस्याओं का समाधान नहीं मिलता वह शायद हमारे लिए बहुत हितकर नहीं होती और बहुत उपादेय भी नहीं होती। हम अध्यात्म का, धर्म का पुनर्मूल्यांकन करें और उसके द्वारा अपने जीवनगत वर्तमान की समस्याओं का समाधान करें।

ब्रह्मचर्य

इन्द्रियों का संयम साधना का प्रथम किन्तु बहुत दूरगामी सूत्र रहा है। प्रारम्भ यहीं से होता है किन्तु बहुत दूर तक जाता है। पांच इन्द्रियां हैं—श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन और स्पर्शन। शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श—ये पांच विषय हैं। एक अर्थ में इन्द्रियों का जीवन ही वास्तव में जीवन है। आदमी उन्हीं को भोग रहा है और उन्हीं के साथ जीवन को चला रहा है।

शब्द सुनता है, रूप देखता है, गंध सूंघता है, रस चखता है और स्पर्श करता है। यदि यह न हो तो जीवन कुछ लगता ही नहीं कि जीवन है। प्रश्न है—ब्रह्मचर्य का। ब्रह्मचर्य के बारे में कुछ धारणाएं विचित्र-सी हो गई हैं। स्पर्शनेन्द्रिय संयम को ही ब्रह्मचर्य के अर्थ में स्वीकार कर लिया गया। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल स्पर्शनेन्द्रिय संयम ही नहीं है किन्तु पंचेन्द्रिय संयम और इससे आगे विकल्प-संयम, स्मृति-संयम, और चिन्तन-संयम भी है। मन और इन्द्रिय—इन सबका संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य का एक व्यापक अर्थ रहा है कि ब्रह्म में जिसका चरण होता है वह है—ब्रह्मचर्य। ब्रह्म का अर्थ ज्ञान भी होता है, ब्रह्म का अर्थ परमात्मा भी होता है और ब्रह्म का अर्थ गुरुकुलवास भी होता है। वास्तव में ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य यह गुरुकुलवास से संबंधित था। जो गुरुकुलवास में रहता है या गुरुकुलवास की चर्या का पालन करता है वह ब्रह्मचारी होता है, उसके ब्रह्मचर्य होता है। गुरुकुलवास में रहने की विशेष चर्या थी—इन्द्रियों का संयम और मन का संयम। पर हमारी धारणा यह है कि ब्रह्मचारी रहें तो स्पर्श को संयम करें। स्पर्श का संयम भी कैसे होगा? सब इन्द्रियां परस्पर जुड़ी हुई हैं। एक को टालकर दूसरे को नहीं संभाला जा सकता। यदि शब्द का संयम नहीं है तो स्पर्शनेन्द्रिय का संयम नहीं हो सकता। यदि चक्षु का संयम नहीं हो सकता तो स्पर्शनेन्द्रिय का संयम नहीं हो सकता। ये सारे उद्दीपन हैं। प्रत्येक रस के पैदा होने में उद्दीपन आवश्यक होते हैं। जब उसके स्थायी भाव, संचारी भाव सब सक्रिय होते हैं और फिर उसको बंद करना चाहते हैं, यह संभव नहीं होता। सभी का संबंध है। उनमें रसन और स्पर्शन—इन दो का तो बहुत गहरा संबंध है। ब्रह्मचर्य के साथ रस का बहुत गहरा संबंध है। शरीर-विज्ञान की दृष्टि में रसन और स्पर्शन—ये परस्पर जुड़े हुए हैं। दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक को वश में करने पर दूसरा अपने आप वश में हो जाता है। अलग से प्रयत्न करना जरूरी नहीं होता। रसना पर नियमन नहीं होता, संयम नहीं होता, स्वाद का संयम नहीं होता और स्पर्शन इन्द्रिय के संयम की

बात जागती है तो बड़ी कठिन बात है। अहिंसा का सम्बन्ध शरीर से भी है, पर शरीर की वह मांग नहीं है। सत्य का सम्बन्ध, अचौर्य का सम्बन्ध, अपरिग्रह का सम्बन्ध शरीर है और मस्तिष्क से संबन्धित है। किन्तु ब्रह्मचर्य का सम्बन्ध शरीर से भी है और मन से भी है। उसकी शारीरिक मांग भी है और मानसिक मांग भी है। पुराना सिद्धांत कुछ दूसरा है कि वीर्य का स्वलन होता है तो ब्रह्मचर्य खंडित होता है। वीर्य स्वलित नहीं होता, वह ऊपर चढ़ जाता है तो ब्रह्मचारी होता है। उसे ऊर्ध्वरेता कहा जाता है। मैं तो ऐसा नहीं सोचता और ऐसा संभव नहीं है। कुछेक शब्दों का अर्थ इतना बदल जाता है कि हम एक रूढ़िगत अर्थ मानते चले जाते हैं। मानने की बड़ी आदत है। हर बात को मानते चले जाते हैं। जानने का प्रयत्न बहुत कम करते हैं। मूल तक, गहराई तक जाने की आदत बहुत कम होती है।

शरीरशास्त्रीय दृष्टि से ऐसा कोई स्नायु या नलिका नहीं है जिससे वीर्य ऊपर जा सके। वीर्य की जहां ग्रंथियां हैं वहां से कोई रास्ता नहीं है कि वीर्य ऊपर चढ़ सके। ऊर्ध्वरेता का अर्थ था—प्राणशक्ति को ऊपर ले जाने वाला। प्राण-विद्युत् ऊपर से नीचे आ सकती है। विद्युत् पूरे शरीर में फैल सकती है किन्तु वीर्य के लिए तो कोई रास्ता नहीं है। मूल में वीर्य का अर्थ ही था—शक्ति, ऊर्जा। यह जो शुक्र, वीर्य और रजस् को एक अर्थ में मान लिया गया है यह बड़ी भ्रंति है। इन सबके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं।

कहा जाता है—‘मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात्’—बिन्दु का पात होने से मरण हो जाता है और बिन्दु का धारण होना ही जीवन है। बिन्दु का मतलब ही शुक्र कर दिया गया। इससे भी बड़ी समस्या पैदा हो गई। अगर बिन्दुपात से मरण हो तब तो कोई आदमी जी नहीं सकेगा। बड़ी कठिन बात है। बिन्दु का अर्थ ही प्राण-विद्युत् है। हमारे मस्तिष्क में जो प्राण-विद्युत् है उसका क्षरण होता है तो मरण होता है। क्योंकि जीवन का मुख्य आधार मस्तिष्कीय प्राण-विद्युत् और मस्तिष्क है। पूरे शरीर में कोशिकाएं नष्ट होती हैं और फिर नई बनती जाती हैं। मस्तिष्क ही एक ऐसा है कि जहां कोशिकाएं नष्ट होती हैं पर उनका पुनर्निर्माण नहीं होता। सबसे ज्यादा सुरक्षा करने का साधन है हमारा मस्तिष्क और फिर प्राण-विद्युत्। अब इस पर ध्यान देना जरूरी है कि काम की तरंग जब पैदा होती है, उससे मस्तिष्क क्षुब्ध होता है। यह मस्तिष्कीय लोभ ही खतरनाक है। मस्तिष्क जितना शांत रहता है, आदमी उतना ही शक्तिशाली बनता है और मस्तिष्क जितना उद्विग्न, उत्तेजित या क्षुब्ध होता है, आदमी उतना ही कमजोर होता है। ब्रह्मचर्य का इसी आधार पर मूल्यांकन किया गया है। कुछ लोग बड़े परेशान हो जाते हैं कि

वीर्य-स्खलन हो गया। जिसके वीर्य-स्खलन हो गया उसे वे ब्रह्मचर्य नहीं मानते, बड़ी विचित्र बात है। कई लोग तो बड़े चिंतित हो जाते हैं। यह कोई इतनी चिन्ता की बात नहीं है। अगर किसी दुर्भावना से, किसी उत्तेजना से वीर्य-स्खलन होता है तो सचमुच चिन्ता की बात है। यह बार-बार नहीं होना चाहिए। किन्तु एक प्राकृतिक नियम है कि जब वीर्य ग्रंथियों में समा नहीं सकता तो वह बाहर निकलता है। यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। अनावश्यक चिन्ता भी आदमी को सताने लगती है। अब रहा प्रश्न ब्रह्मचारी का, सब व्यक्ति ब्रह्मचारी बन सके यह तो बहुत कठिन बात है, कठिन साधना है। सामान्य व्यक्ति अपने 'काम' की पूर्ति करते हैं और जीवन चलाते हैं। कुछ लोग ऐसे हो सकते हैं जो इस दिशा में उसका संयम करना चाहते हैं, संयम करते हैं। अब प्रश्न है अति का। 'काम' का अतिसेवन भी खतरनाक होता है। उससे शक्तियां बहुत क्षीण होती हैं।

सुकरात से पूछा गया कि मनुष्य को संभोग कितनी बार करना चाहिए?

उन्होंने कहा—'जीवन में एक बार।'

'यह संभव न हो तो?'

'वर्ष में एक बार।'

'यह भी संभव नहीं हो तो?'

'महीने में एक बार।'

'यह भी संभव न हो तो?'

'फिर कफन सिर पर रख लो और चाहे जैसे चलो।'

यह बिलकुल सही बात है कि जो अति है वह बहुत खतरनाक है। कुछ लोग जो मनोविज्ञान की भाषा में सोचते हैं वे ऐसा भी सोचते हैं कि ब्रह्मचारी रहने वाला पागल हो जाता है, विक्षिप्त हो जाता है। बात भी ठीक है। इसमें सचाई भी है कि अब्रह्मचर्य सुख है। इसमें कोई संदेह नहीं माना गया है। आदमी एक सुख को ठुकरता है, शरीर की मांग को ठुकराता है तो प्रतिक्रिया होती है, कुछ विक्षेप होता है और पागलपन-सा आता है। किन्तु यदि उससे दूसरा बड़ा सुख मिल जाता है तो पागलपन नहीं आता और अधिक आनंद आने लग जाता है। यह पागलपन का जो प्रश्न आता है वह उस स्थिति में आता है, जब आदमी प्राप्त सुख को छोड़ता है और दूसरा सुख कोई सामने नहीं होता। एक लकीर है। उसके नीचे बड़ी लकीर खींच दें तो पहले वाली अपने आप छोटी हो जाएगी। किन्तु लकीर कोरी रहती है तो बड़ी या छोटी की बात नहीं होती। बड़ा सुख उपलब्ध किया जाए तो फिर यह बात अपने आप गौण हो जाती है।

उसकी साधना के कुछ सूत्र हैं। उन सूत्रों का आलम्बन लेने पर सहज सुख उपलब्ध होता है और उससे भी ज्यादा सुख उपलब्ध हो जाता है। ध्यान की प्रक्रिया में अन्तर्यात्रा का प्रयोग किया जाता है। अन्तर्यात्रा का अच्छा अभ्यास होने पर, सुषुम्ना में चित्त की ऊपर और नीचे की यात्रा होने पर ऐसे सुख का अनुभव होता है कि जैसा शायद भोग में भी नहीं होता।

दर्शनकेन्द्र पर बालसूर्य का ध्यान करते-करते ऐसे स्पंदन जागते हैं, ऐसे सुख का अनुभव होता है कि वैसा सुख काम-सेवन में भी नहीं होता। अगर हम इसके वैज्ञानिक कारण को समझ लें तो बात बहुत स्पष्ट हो जाएगी। सुख का अर्थ होता है—मन का संकल्प और विद्युत्-रसायन का योग होना। वास्तव में जो सुख या दुःख का अनुभव होता है वह एक प्रकार की विद्युत्-धारा के साथ हमारे मन का योग होने से होता है। एक प्रकार के रसायन के साथ हमारा मन जुड़ता है तो सुख का संवेदन बन जाता है। दूसरे प्रकार की विद्युत्-धारा या दूसरे प्रकार के रसायन के साथ मन जुड़ता है तो दुःख बन जाता है। योग होना मन का—यह एक बड़ी बात है। हम अपने भीतरी रसायनों के साथ, विद्युत्-प्रवाहों के साथ अपने मन को जोड़ सकें तो बहुत सुख उपलब्ध हो सकता है।

दो ग्रन्थियां खोजी गई हैं सिर के पीछे, जिसे गुप्ति का भाग कहा जाता है। वहां छोटी-छोटी दो ग्रन्थियां हैं। वे परस्पर सटी हुई हैं। आज का वैज्ञानिक विश्लेषण यह है कि एक ग्रन्थि जाग जाए तो फिर चाहे जितनी भयंकर घटना घटित हो जाए आदमी को कभी दुःख नहीं होगा और दूसरी ग्रन्थि जाग जाए तो चाहे जितनी अनुकूलता मिल जाए, वैभव मिल जाए, सम्पदा मिल जाए, भोग मिल जाए—उसे कभी सुख नहीं होगा। हमारी धारणा यह है कि सुख और दुःख हमें बाहर से मिलता है, किन्तु सचाई यह है कि इनका संवेदन भीतर में होता है। पदार्थ हो चाहे न हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। पदार्थ होने पर भी सुख-दुःख मिल सकता है। मिलेगा तभी जब इस प्रकार के प्रकम्पन और स्पंदन हमारे मन में जाग जाएं, उस प्रकार की तरंग जागेगी और विद्युत्-धारा का योग हो जाएगा। यह हमारी नितान्त संवेदना की प्रक्रिया है। हम जो नियमन करेंगे, संयम करेंगे, वह पदार्थ का नहीं करेंगे। हम संवेदना का नियमन करेंगे। इस संवेदन के रहस्य को समझ लेना ही ब्रह्मचर्य को समझ लेना है। जिस व्यक्ति ने संवेदन को नहीं समझा वह इस रहस्य को नहीं समझ सकता। वह केवल बाहरी वस्तु पर भटकता रहेगा, बाहरी पदार्थ पर उलझता रहेगा। यह सही है कि बाहरी पदार्थ भी निमित्त बनता है, उस संवेदना को जगाने का निमित्त बनता है किन्तु सुख-दुःख देने का निमित्त नहीं बनता।

यौन हार्मोस का स्राव सब व्यक्तियों में होता है। पहले पीनियल ग्रन्थि के द्वारा उसे रोक लिया जाता है। वह नीचे नहीं जाता। जब बालक बारह-तेरह वर्ष का होता है तब पीनियल निष्क्रिय होने लगता है और यौन हार्मोस, उतेजना के जो हार्मोस हैं, ये स्राव नीचे जाने लगते हैं। यौन हार्मोस का गोनाड में आना और उसे प्रभावित करना—यही है अब्रह्मचर्य। यह बिलकुल शारीरिक प्रक्रिया है कि वे हार्मोस आते हैं और गोनाड ग्रन्थि को प्रभावित करते हैं, कामग्रन्थि को प्रभावित करते हैं और तब काम-वासना की विचारधारा जाग जाती है। जिस व्यक्ति ने दर्शनकेन्द्र पर, ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान किया और उस यौन-हार्मोस को नियंत्रित करना सीख लिया, उस व्यक्ति में परिवर्तन आ जाएगा।

कई प्रकार की वृत्तियां होती हैं। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें यह वासना जागती ही नहीं। यह तो बहुत आगे की भूमिका है। एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है किन्तु सताती नहीं और एक वृत्ति वह होती है, जिसमें वासना जागती है और निरन्तर सताती है।

अति-कामुकता, कामुकता और अकामुकता—ये तीन अवस्थाएं बन जाती हैं। गृहस्थ के लिए अकामुकता वाली बात तो होती नहीं। वह कोई संन्यासी तो नहीं जो बिलकुल काम का संपर्क न करे। अब शेष दो वृत्तियां बचती हैं। एक तो काम का सेवन करता है और वासना उसे विवश कर देती है, उसे सताती है। वह सताए नहीं। व्यक्ति नियमन कर सके, इतनी क्षमता तो हर व्यक्ति में जागनी चाहिए। उस पर हमारा नियंत्रण रहे, हम पर हावी न हों, वे हमारी स्वामी न बनें, हम उनके स्वामी बनें। उन पर हमारा नियंत्रण हो, और हम उन पर हावी हों। इतना ही करना है। आप वीतराग की दृष्टि से कभी न सोचें कि ध्यान करेंगे तो संसार कैसे चलेगा। सब ब्रह्मचारी हो जाएंगे, यह भी अति-कल्पना की बात होगी। यह कभी संभव भी नहीं है। और बड़े-बड़े संन्यासियों के लिए भी कितनी कठिनाई की बात होगी यह भी जानते हैं। इस बात की चिन्ता न करें। यह सोचें कि यह बड़ी जटिल वृत्ति है, इस पर नियंत्रण करने की थोड़ी-सी भी वृत्ति हमारी जाग जाए। नियंत्रण में दो बातें हैं—एक नियंत्रण होता है दमन से। एक नियंत्रण होता है उदात्तीकरण से। दमन से और अधिक प्रतिक्रिया होती है और पागलपन वाली बात तब आती है जब आदमी वृत्ति को जबरदस्ती रोकता है, नियंत्रण करता है, नियंत्रण करता चला जाता है। दमन करता चला जाता है। दमन की प्रतिक्रिया से स्वरूप चित्त में क्षोभ पैदा होता है, एक प्रकार का पागलपन भी आ जाता है। पूरा नहीं तो व्यक्ति आधा पागल बन जाता है। जो लोग शादी नहीं करते उन्हें विक्षिप्त अवस्था में हमने देखा है। यह स्थिति आ जाती है अतिनियंत्रण के द्वारा। मैं जिस नियमन की बात

कर रहा हूँ वह जबरदस्ती दबाना नहीं है, किन्तु उस वृत्ति का उदात्तीकरण करना है। उस वृत्ति को इतना विशाल बना दिया जाता है व्यापक प्रयोग के द्वारा कि जिससे सताने की बात समाप्त हो जाती है। इसमें दमन नहीं होता, जबरदस्ती नहीं रोका जाता किन्तु यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे वे हार्मोस कम स्रावित होते हैं और अपना कम प्रभाव जताते हैं। यह सारा साधना के द्वारा संभव होता है और इसमें चैतन्य केन्द्रों का ध्यान बहुत सहयोगी बनता है। जिन लोगों में ज्यादा उत्तेजना, ज्यादा आवेग, ज्यादा कामवासना जागती है उनके लिए चैतन्य केन्द्रों का ध्यान ज्यादा उपयोगी है। ये सारी वृत्तियाँ नाभि के आस-पास जागती हैं। कामवासना गोनाड में जागती है और उत्तेजना एड्रीनल के पास। उनके स्राव जब अधिक बढ़ते हैं तब यह अधिक वाली बात होती है। अन्यथा जीवन में जितना अपेक्षित और आवश्यक है उतना हो जाता है और शेष ध्यान दूसरी बात में रहता है। अब एक स्थिति यह बन जाती है कि काम की तनाव इतना बढ़ जाता है कि उसके अलावा कुछ दिखता ही नहीं है। बहुत सारे लोग इस प्रकार पागल बन जाते हैं कि जिसको चाहते हैं उसका संयोग नहीं मिलता है तो आत्महत्या कर लेते हैं। न जाने कितने युवक-युवतियाँ आत्महत्या करते होंगे। और भी न जाने कितने अपराध और कितनी समस्याएँ पैदा होती होंगी। इसका कारण है कि उनमें नियंत्रण करने की क्षमता नहीं है। पानी तालाब में उतना ही आए जितना उसमें समा सकता है। ऐसी स्थिति होनी चाहिए कि नाले को बन्द किया जा सके। बांध है। उसमें उतना ही पानी आए जितनी उसकी क्षमता है अतिरिक्त पानी आ जाए तो बांध टूटने का खतरा भी पैदा हो जाता है। यह माना गया है कि सामान्य आदमी में यह भाव उतना ही आए जितना उसमें शारीरिक, मानसिक आदि दृष्टियों से हानि न पहुंचाते हुए अपना काम कर सके।

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य के इन पहलुओं पर शारीरिक दृष्टि से, मानसिक दृष्टि से, आध्यात्मिक और सामाजिक दृष्टि से विचार नहीं किया वे ब्रह्मचर्य के बारे में बहुत भ्रांतियाँ पालते हैं। शारीरिक दृष्टि से जैसे मनोविज्ञान का सिद्धांत है कि यदि आदमी कामभोग का सेवन नहीं करता है तो भी शरीर स्वस्थ नहीं रहता। यह एक बड़ी भ्रांति है। जो लोग ब्रह्मचारी रहते हैं वे बहुत स्वस्थ रह सकते हैं। पर ठीक यही बात है कि उसके साथ मानसिक स्तर पर विचार करना होगा कि शरीर से वह अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर रहा है पर मन से निरन्तर उसका सेवन कर रहा है तो वह शरीर से बच रहा है किन्तु मन बिलकुल खुला है तो पागलपन जरूर आ जाएगा, कठिनाई पैदा होगी। उसके साथ-साथ जब शारीरिक संयम करना है तो पहले मानसिक संयम करने की बात सीखनी होगी कि मन से कैसे संयम करें और

मन से संयम करने की बात सीखनी है तो आध्यात्मिक संयम की बात सीखनी होगी कि भीतर के स्रावों को, भीतर के रसायनों को कैसे नियंत्रित कर सकें एवं विद्युत् प्रवाहों को कैसे संतुलित कर सकें। यह साधना करनी होगी। आध्यात्मिक साधना होगी तो मानसिक साधना होगी और मानसिक साधना होगी तो शारीरिक साधना होगी।

कुछ लोगों में यह प्रश्न होता है कि जो ब्रह्मचारी होगा उसका शरीर तेजस्वी होगा, मजबूत और दृढ़ होगा। यह भी एक भ्रांति है, बहुत बड़ी भ्रांति है। अच्छा चमकता हुआ चेहरा तो उस व्यक्ति का होगा जिसका खून ज्यादा अच्छा है। हमने खोजा तो यह तथ्य निकला कि जो अच्छा खाता है, पीता है, पाचन अच्छा है और रक्त अच्छा बनता है तो उसका चेहरा चमकेगा। वैसे व्यक्ति को हमने देखा है, जो घोर अब्रह्मचारी है, उसका चेहरा ऐसा चमक रहा है मानो लहू टपक रहा हो। खोज गया तो पता चला कि प्राचीन साहित्य में ब्रह्मचारी के लिए कहा गया कि राख से ढकी हुई आग है—भीतर में ज्योति है और ऊपर राख है। क्योंकि उसने अपनी साधना के लिए तपस्या के द्वारा शरीर को इतना तपा लिया कि मांस तो बहुत सूख गया है—बाहर से तो रुखा लग रहा है और भीतर में ज्योति जल रही है। संतवाणी को देखा तो कबीर की वाणी में मिला कि 'बाहर से तो कुछ न दीखै, भीतर जली रही जोत।' बाहर से तो कुछ नहीं दिख रहा है और भीतर में ज्योति जल रही है। एक तेजपुंज जैसा हो रहा है। आचार्य भिक्षु की वाणी में मिला कि 'मांस लोही कम हुवै तपसी तणै'—जो तपस्वी है उसके मांस भी कम होगा, रक्त भी कम होगा। वह तो बेचारा सूख जाता है। योगी का पहला लक्षण है—शरीर की कृशता।

धर्मचन्द ने एक संस्मरण सुनाते हुए कहा—अभी-अभी कलकत्ता में मैं एक योगी से मिला। उसको मेरे द्वारा लिखी गई योग की कुछ पुस्तकें दीं। उसने उलट-पुलट कर देखा। कुछेक बातों पर उसका ध्यान गया। उसने पूछा—इन पुस्तकों में जो लिखा है वह अनुभव की वाणी है या केवल सिद्धांत की बात है? मैंने कहा—अनुभव की। फिर उसने पूछा—लिखने वाले का शरीर कृश है या चर्बी से भरपूर? मैंने कहा—अत्यन्त कृश। योगी बोला—ठीक है, मैं समझ गया।

ब्रह्मचर्य के द्वारा उपलब्ध होती है—सहिष्णुता की शक्ति, बुद्धि की प्रखरता यानी सूक्ष्म-सत्य तक पहुंचने की शक्ति। ब्रह्मचारी में इतना धैर्य होगा कि वह हर बात को सहन कर लेगा, अधीर नहीं बनेगा। धीर की परिभाषा करते हुए कवि कहता है—विकारहेतौ सति, विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः—विकार का निमित्त होने पर भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता, वह धीर होता है। यही धृति है। ब्रह्मचर्य के द्वारा धृति का विकास होता है। मनोबल का विकास होता है। लोग

आश्चर्य करते हैं गांधी का एक मुट्ठी भर हड्डी का शरीर था इतना दुबला, पतला, सुन्दर भी नहीं थे, चमकता हुआ चेहरा भी नहीं था किन्तु मनोबल इतना था कि बड़ी से बड़ी सत्ता के सामने कभी झुकने या डरने की बात नहीं आती थी। जहां मरने की बात होती—सबसे आगे होते, कभी मन में यह भय नहीं होता कि मैं मारा जाऊंगा। ब्रह्मचर्य से आत्म-विश्वास, मनोबल पैदा होता है। यह हमारी सूक्ष्मशक्ति है ब्रह्मचर्य की। इसके द्वारा आंतरिक शक्तियों का विकास होता है। उसका शरीर से कोई बहुत संबंध नहीं है, गहरा सम्बन्ध नहीं है। यह ठीक है कि ब्रह्मचारी होगा तो नाड़ी-संस्थान कमजोर नहीं होगा, नाड़ी-संस्थान बहुत मजबूत रहेगा। स्नायुशक्ति मजबूत रहेगी। मस्तिष्क की शक्ति बहुत मजबूत रहेगी और बहुत सक्रियता रहेगी। उसका संबंध आंतरिक शक्तियों के विकास से अधिक है, शारीरिक शक्तियों के विकास से कम है।

निष्कर्ष की भाषा में ब्रह्मचर्य का अर्थ है—सब इंद्रियों का संयम और मन का संयम। जो व्यक्ति जननेन्द्रिय का संयम करना चाहता है उसे विशेष ध्यान देना होगा रसनेन्द्रिय के संयम पर। इसीलिए उस स्थान का नाम भी प्रेक्षाध्यान में है—स्वास्थ्य केन्द्र। यानी वह स्वास्थ्य का केन्द्र है। आदमी उतना ही मन से और भावना से स्वस्थ होगा, जितना कि स्वास्थ्य केन्द्र उसका अधिक नियमित होगा, वश में होगा, सधा हुआ होगा। जीभ पर संयम करना, जीभ को स्थिर करना, जीभ को शिथिल करना और मौन करना—ये सब उसमें सहायक बनते हैं। इन सबसे सहायता मिलती है।

ब्रह्मचर्य की तीन अवस्थाएं हैं—

१. पूर्ण ब्रह्मचर्य ।
२. सीमित ब्रह्मचर्य ।
३. अब्रह्मचर्य—उच्छृंखल ब्रह्मचर्य ।

ये तीन मार्ग हैं। एक मार्ग को तो छोड़ना है। उच्छृंखलता को छोड़ना है। दो मार्ग शेष रह जाते हैं। वह अपनी शक्ति पर निर्भर है। जिसको यह लगे कि मैं पूरे ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता हूँ तो सबसे अच्छी बात है। जिसको लगे कि यह संभव नहीं है तो फिर सीमित ब्रह्मचर्य की बात हो सकती है। इसे कहा जाता है अणुव्रत की भाषा में 'स्वदार-संतोष'—अपनी पत्नी में संतोष करना। न वेश्यागमन, न परस्त्रीगमन, न कन्यागमन। इनका बिलकुल परित्याग करना। यह एक प्रकार से सीमित ब्रह्मचर्य हो गया।

जब हमारा दृष्टिकोण साफ हो जाता है और हम स्वास्थ्य की दृष्टि से—शारीरिक, मानसिक और आंतरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करते हैं तो इन

दोनों में से एक रास्ते का चुनाव हो सकता है। किन्तु तीसरे रास्ते का चुनाव तो सर्वथा नहीं हो सकता। वह हमारे लिए सर्वथा वर्जनीय होता है।

ये प्रश्न हैं सेक्स के विषय में। इन प्रश्नों पर हमने संक्षिप्त-सी चर्चा की। बहुत आवश्यक भी है यह चर्चा। क्योंकि यह स्थिति आज के वातावरण में बहुत जटिल बनती जा रही है। और विशेषतः युवकों में, युवतियों में, बच्चों में बहुत जटिल बनती जा रही है। क्योंकि इस बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं है, कोई प्रशिक्षण नहीं है और कभी-कभी प्रशिक्षण की बात चलती है तो प्रशिक्षण में भी संकोच करते हैं। यह संकोच जैसी बात तो नहीं है। बच्चों में बहुत बुरी आदतें न पड़ें क्योंकि बचपन से ही कुछ प्राकृतिक, अप्राकृतिक स्थितियां बनने लग जाती हैं। अप्राकृतिक ढंग से वीर्य का नाश करने वाला व्यक्ति सचमुच पागलपन की स्थिति में जाता है और शून्य हो जाता है। शक्तियां उसकी चुक जाती हैं और फिर उसकी स्नायविक दुर्बलता हो जाती है। उसके वश की बात नहीं रहती। यदि प्रारम्भ से ही बच्चों को उसके प्रति सावधान किया जा सके तो उसके अच्छे परिणाम आ सकते हैं। इसमें अहित नहीं होता, हित की बात ही आती है। किन्तु लोग समझते हैं कि यह लज्जा का विषय है। लज्जा का विषय क्या है? ज्ञान होने पर उनके हित और कल्याण की बात है और ज्ञान न होने पर शायद ज्यादा अहित की बात हो सकती है। इन सारे पहलुओं से इस विषय पर हम चिन्तन करें। यह विषय सचमुच हमारे लिए बहुत उपयोगी है।

मनुष्य में विज्ञान है, विवेक की चेतना है। पशु में यह नहीं है। यही मनुष्य की विशेषता है।

मनुष्य की विशिष्टता का दूसरा हेतु है— चेतना विकास का बोध और उसकी क्रियान्विति। प्राणी-जगत् में चेतना है, किन्तु चेतना के विकास का बोध नहीं है और करने की क्षमता भी नहीं है।

‘मैं मनुष्य हूँ’—यह अस्तित्व की स्वीकृति है। ‘मैं कुछ होना चाहता हूँ’— यह परिष्कार की स्वीकृति है। इस परिष्कार के तीन सूत्र हैं—व्यवहार का परिष्कार, आचार का परिष्कार और संस्कार का परिष्कार।

व्यवहार के परिष्कार का अर्थ है— क्रूरता की समाप्ति, करुणा की प्रतिष्ठा। आचार परिष्कार का अर्थ है—क्रूरता की समाप्ति, समता की प्रतिष्ठा। संस्कार के परिष्कार का अर्थ है— आवेगों की समाप्ति, सहिष्णुता की प्रतिष्ठा।

प्रेक्षा ध्यान की प्रक्रिया तीनों परिष्कारों की घटक है। उससे व्यक्ति का व्यवहार, आचार और संस्कार बदलता है।

‘मैं कुछ होना चाहता हूँ।’

मैं ऐसा मनुष्य होना चाहता हूँ जिसमें करुणा, समता और सहिष्णुता की प्रतिष्ठा हो।

मैं ऐसा चेतन-सम्पन्न मनुष्य होना चाहता हूँ जिसमें मृदुता, समता और शान्ति की त्रिवेणी प्रवाहमान हो।

मैं दुःख में से सुख निकालने वाली चेतना से सम्पन्न मनुष्य होना चाहता हूँ।

मैं अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रस्थान करनेवाली चेतना से सम्पन्न होना चाहता हूँ।

मैं ‘हूँ’ की चेतना से आगे बढ़कर ‘होने’ की चेतना को हस्तगत करनेवाला मनुष्य होना चाहता हूँ।

बस, यही है ‘मैं कुछ होना चाहता हूँ’ की प्रतिध्वनि।

—आचार्य महाप्रज्ञ



जैन विश्व भारती